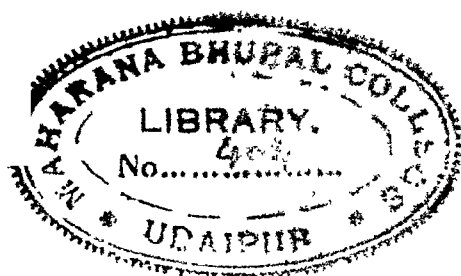


द्विवेदी-मीमांसा

लेखक .

प्रेमनारायण ठंडन



प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, इलाहाबाद

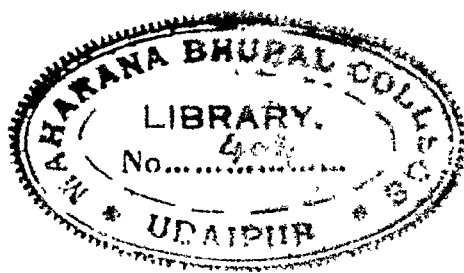
मूल्य १।।)

१९३९

द्विवेदी-मीमांसा

लेखक .

प्रेमनारायण ठंडन



प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, इलाहाबाद

मूल्य १।।)

१९३९

भारतेंदु कर गए, भारती की वीणा निर्माण ।
 किया अमर स्पर्शों ने जिसका बहुविधि स्वर-संधान ॥
 निश्चय उसमें जगा आपने प्रथम स्वर्ण-भंकार ।
 अखिल देश की वाणी को दे दिया एक आकार ॥

×

×

×

पंखहीन थी अहा, कल्पना, मूक कंठगत गान ।
 शब्द शून्य थे भाव; रुद्ध प्राणों से वंचित प्राण ॥
 सुख-दुख की प्रिय कथा स्वप्न ! बंदी थे हृदयोद्गार ।
 एक देश था सही, एक था क्या वाणी-व्यापार ?

×

×

×

वाग्मि ! आपने मूक देश को कर फिर से वाचाल,
 रूप-रंग से पूर्ण कर दिया जीर्ण राष्ट्र-कंकाल ।
 शत कंठों से फूट आपके शतमुख, गौरव-गान ।
 शत-शत दुर्ग-स्तंभों से ताने स्वर्णिम-कीर्त्ति-वितान ॥

×

×

×

चिर स्मारक-सा, उठ युग-युग में, भारत का साहित्य ।
 -आर्य, आपके यशःकाम को करे सुरक्षित नित्य ॥

—सुमित्रानंदन पंत

(द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ)

भारतेंदु कर गए, भारती की वीणा निर्माण ।
 किया अमर स्पर्शों ने जिसका बहु विधि स्वर-संधान ॥
 निश्चय उसमें जगा आपने प्रथम स्वर्ण-भंकार ।
 अखिल देश की वाणी को दे दिया एक आकार ॥

×

×

×

पंखहीन थी अहा, कल्पना, मूक कंठगत गान ।
 शब्द शून्य थे भाव; रुद्ध प्राणों से वंचित प्राण ॥
 सुख-दुख की प्रिय कथा स्वप्न ! बंदी थे हृदयोद्गार ।
 एक देश था सही, एक था क्या वाणी-व्यापार ?

×

×

×

वाग्मि ! आपने मूक देश को कर फिर से वाचाल,
 रूप-रंग से पूर्ण कर दिया जीर्ण राष्ट्र-कंकाल ।
 शत कंठों से फूट आपके शतमुख, गौरव-गान ।
 शत-शत दुर्ग-स्तंभों से ताने स्वर्णिम-कीर्ति-वितान ।

×

×

×

चिर स्मारक-सा, उठ युग-युग में, भारत का साहित्य ।
 आर्य, आपके यशःकाम को करे सुरक्षित नित्य ॥

—सुमित्रानंदन पंत

(द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ)

इस संबंध में मैंने आदरणीय बाबू कालिदास जी कपूर, एम० ए०, एल० टी०, से बात की थी। इसी सिलसिले में उन्होंने द्विवेदी जी का नाम लिया और बोले—इनके विषय में कुछ लिख सको तो लिखो; इसकी बड़ी जरूरत है।

मैंने स्वीकार कर लिया। मास्टर साहब ने मुझे द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ दिया, सरस्वती (सन् १९१८ से), सुधा, माधुरी, विशाल भारत, हंस और जागरण की काइलें दीं और दीं द्विवेदी जी की कुछ पुस्तकें। नया-नया उत्साह था। द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ का “श्रद्धांजलि” शीर्षक अंश में उसी दिन पढ़ गया और दो लेख—पूर्वरूप और मंक्षिप्त जीवनचरित्र—लिख डाले। शाम को मैंने वे लेख मास्टर साहब को दिखाये। उन्होंने संशोधन किया। मैंने बड़ी उत्सुकता से पूछा—ठीक हैं ? उन्होंने मुझे उत्साहित करते हुए कहा—हाँ, ठीक ही हैं, पर इतनी जल्दी करने से काम नहीं चलेगा। इससे मेरा उत्साह ही बढ़ा। द्विवेदी जी की पुस्तकें मैंने मँगाईं; कुछ दिन के लिए, द्विवेदी जी की अनुमति से, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी में जाकर द्विवेदी जी का पत्र-व्यवहार देखा और तब फिर से “मीमांसा” में हाथ लगाया। मुझे ठीक याद है कि जिस दिन मैंने यह पुस्तक लिखनी आरंभ की थी, वह जन्माष्टमी का अत्यंत शुभ और पुनीत दिवस था। आज उसी परमात्मा की असीम अनुकंपा से, लगभग तीन वर्ष के परिश्रम के बाद, मैं इसे तैयार कर सका हूँ। इसके लिए मसाला जुटाने में, आर्थिक कठिनाइयों के होते हुए भी, मैंने यथाशक्ति परिश्रम किया और मिले हुए मैटर का पूर्ण उपयोग करने की चेष्टा भी की, फिर भी यह पुस्तक जैसी होनी चाहिए थी, वैसी न हो सकी। इसका प्रधान कारण मेरी अयोग्यता है, मैटर की कमी नहीं।

इस संबंध में मैंने आदरणीय बाबू कालिदास जी कपूर, एम० ए०, एल० टी०, से बात की थी। इसी सिलसिले में उन्होंने द्विवेदी जी का नाम लिया और बोले—इनके विषय में कुछ लिख सको तो लिखो; इसकी बड़ी जरूरत है।

मैंने स्वीकार कर लिया। मास्टर साहब ने मुझे द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ दिया, सरस्वती (सन् १९१८ से), सुधा, माधुरी, विशाल भारत, हंस और जागरण की फाइलें दीं और दीं द्विवेदी जी को कुछ पुस्तकें। नया-नया उत्साह था। द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ का “श्रद्धांजलि” शीर्षक अंश मैं उसी दिन पढ़ गया और दो लेख—पूर्वरूप और संक्षिप्त जीवनचरित्र—लिख डाले। शाम को मैंने वे लेख मास्टर साहब को दिखाये। उन्होंने संशोधन किया। मैंने बड़ी उत्सुकता से पूछा—ठीक हैं? उन्होंने मुझे उत्साहित करते हुए कहा—हाँ, ठीक ही हैं, पर इतनी जल्दी करने से काम नहीं चलेगा। इससे मेरा उत्साह ही बढ़ा। द्विवेदी जी की पुस्तकें मैंने मँगवाई; कुछ दिन के लिए, द्विवेदी जी की अनुमति से, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी में जाकर द्विवेदी जी का पत्र-व्यवहार देखा और तब फिर से “मीमांसा” में हाथ लगाया। मुझे ठीक याद है कि जिस दिन मैंने यह पुस्तक लिखनी आरंभ की थी, वह जन्माष्टमी का अत्यंत शुभ और पुनीत दिवस था। आज उसी परमात्मा की असीम अनुकंपा से, लगभग तीन वर्ष के परिश्रम के बाद, मैं इसे तैयार कर सका हूँ। इसके लिए मसाला जुटाने में, आर्थिक कठिनाइयों के होते हुए भी, मैंने यथाशक्ति परिश्रम किया और मिले हुए मैटर का पूर्ण उपयोग करने की चेष्टा भी की, फिर भी यह पुस्तक जैसी होनी चाहिए थी, वैसी न हो सकी। इसका प्रधान कारण मेरी अयोग्यता है, मैटर की कमी नहीं।

उत्साहित किया है। पंडित रूपनारायण जी पांडेय (माधुरी-संपादक) ने मेरे लेखों को माधुरी में प्रकाशित कर, समय-समय पर मुझे प्रोत्साहित करके और परामर्श देकर जो अमूल्य सहायता दी है तथा पंडित देवीदत्त जी शुक्ल (सरस्वती-संपादक) और बाबू कालिदास जी कपूर ने मुझ पर जो कृपा रखी है उसके लिए मैं केवल इतना कह सकता हूँ कि यदि ये महानुभाव मुझ पर ऐसी कृपा न रखते तो शायद "भीमांसा" कभी तैयार ही न हो सकती।

१—८—३६
रानीकटरा, लखनऊ }

प्रेमनारायण टंडन

उत्साहित किया है। पंडित रूपनारायण जी पांडेय (माधुरी-संपादक) ने मेरे लेखों को माधुरी में प्रकाशित कर, समय-समय पर मुझे प्रोत्साहित करके और परामर्श देकर जो अमूल्य सहायता दी है तथा पंडित देवीदत्त जी शुक्ल (सरस्वती-संपादक) और बाबू कालिदास जी कपूर ने मुझ पर जो कृपा रक्खी है उसके लिए मैं केवल इतना कह सकता हूँ कि यदि ये महानुभाव मुझ पर ऐसी कृपा न रखते तो शायद “मीमांसा” कभी तैयार ही न हो सकती।

१—८—३६
रानीकटरा, लखनऊ }

प्रेमनारायण टंडन

द्विवेदी-मीमांसा

(स्वर्गीय आचार्य पंडित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी की
हिन्दी-सेवा की परिचयात्मक आलोचना ।)

लेखक, प्रेमनारायण टंडन

वी० ए०, विशारद,

हिंदी-अध्यापक, कालीचरण हाईस्कूल, लखनऊ ।

द्विवेदी-मीमांसा

(स्वर्गीय आचार्य पंडित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी की
हिन्दी-सेवा की परिचयात्मक आलोचना ।)

लेखक, प्रेमनारायण टंडन

बी० ए०, विशारदे,

हिंदी-अध्यापक, कालीचरण हाईस्कूल, लखनऊ ।

विषयानुक्रमिका

विषय	पृष्ठ
पूर्वरूप	१
गद्य की दशा	११
पद्य	३
छन्द और काव्यविषय	४
साहित्यिक अंग	४
जन्म, शिक्षा और साहित्य-प्रवेश	७
हिन्दी-पत्रों का संक्षिप्त इतिहास	१४
सरस्वती में विविध विषय	१९
लेखकनिर्माण	३१
सम्पादन-कला और परिश्रम	४६
एक संशोधित लेख	५८
भाषा-सुधार-कार्य	६८
समालोचना	८०
प्रवृत्ति, उद्देश्य और आदर्श	८३
समालोचना	९१
(१) संस्कृत-ग्रन्थों की आलोचना	९१
(२) हिन्दी-पुस्तकों की आलोचना	९४
आलोचना-शैली	९६
दूसरों के विचार	१०५
प्रभाव और समीक्षा	१११
निबन्ध और ग्रन्थ	११६
पुस्तकें	१२९

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ
पूर्वरूप	१
गद्य की दशा	१
पद्य	३
छन्द और काव्यविषय	४
साहित्यिक अंग	४
जन्म, शिक्षा और साहित्य-प्रवेश	७
हिन्दी-पत्रों का संक्षिप्त इतिहास	१४
सरस्वती में विविध विषय	१९
लेखकनिर्माण	३१
सम्पादन-कला और परिश्रम	४६
एक संशोधित लेख	५८
भाषा-सुधार-कार्य	६८
समालोचना	८०
प्रवृत्ति, उद्देश्य और आदर्श	८३
समालोचना	९१
(१) संस्कृत-ग्रन्थों की आलोचना	९१
(२) हिन्दी-पुस्तकों की आलोचना	९४
आलोचना-शैली	९६
दूसरों के विचार	१०५
प्रभाव और समीक्षा	१११
निबन्ध और ग्रन्थ	११६
पुस्तकें	१२९

विषय	पृष्ठ
संग्रह ...	२५८
सफलता का रहस्य ...	२५६
भारतीयता का भाव ...	२६२
सम्मान ...	२७३
महत्त्व ...	२८०

विषय	पृष्ठ
संग्रह ...	२५८
सफलता का रहस्य ...	२५६
भारतीयता का भाव ...	२६२
सम्मान ...	२७३
महत्त्व ...	२८०

यदि एक ऐसी भाषा थी जिसे भारत के समस्त प्रांतों के निवासी थोड़ा-बहुत समझ सकते थे। भारतीय सुधारकों के पूर्ववर्ती व समकालीन ईसाई मिशनरी भी इसी कारण हिन्दी में ही अपनी पुस्तकें छपाते थे और आरम्भ में सरकार ने भी हिन्दुस्तानियों और गोरों में रत्न-वत्न बढ़ाने के लिए हिन्दी का ही सहारा पकड़ा था। इन नये प्रयत्नों का सुपरिणाम, जो प्रायः पुष्पाक्षर न्याय ने हुआ था, यह हुआ कि हिन्दी-भाषा का प्रचार जनता में पहले की अपेक्षा कुछ अधिक हो गया और भार्गवेंद्र बाबू हरिश्चन्द्र (जन्म १८२७-१८८१) अपने बल-बल के साथ हिन्दी-भाषा को अपनाते का, और उसी में अपने भाव प्रकट करने का आदर्श जनता के सामने रख सके। इन लोगों ने अँगरेजी और बँगला से प्रभावित होकर हिन्दी-भाषा में भी काफी सुधार किये और इन भाषाओं के अनेक नाटकों और उपन्यासों का अनुवाद करके तथा अनेक मौलिक पुस्तकें रचकर हिन्दी-भाषा की श्रीवृद्धि की। बँगला और अँगरेजी के साहित्यिकों के दो स्पष्ट प्रभाव हिन्दी भाषा पर पड़े—

(१) भाषा में शिष्टता और कामलता आ गई और उसकी व्यंजना-शक्ति बढ़ गई।

(२) अँगरेजी के विराम-चिह्नों का थोड़ा-बहुत प्रयोग होने लगा।

इसका यह फल हुआ कि भाषा स्पष्ट, संगठित और सुलभी हुई होगई। फिर भी भाषा में व्याकरण-सन्धन्धी दोष बने रहे और उसके रूप में भी काफी अस्थिरता और असंयमता चलती रही।

पद्य

यह तो हुई गद्य की बात! पद्य की दशा भी लगभग ऐसी ही थी; यद्यपि उसका कलेवर अपेक्षाकृत अधिक उन्नति कर रहा

यही एक ऐसी भाषा थी जिसे भारत के समस्त प्रांतों के निवासी थोड़ा-बहुत समझ सकते थे। भारतीय सुधारकों के पूर्ववर्ती व समकालीन ईसाई मिशनरी भी इसी कारण हिन्दी में ही अपनी पुस्तकें छपाते थे और आरम्भ में सरकार ने भी हिन्दुस्तानियों और गोरों में रूढ़न-उद्घन बढ़ाने के लिए हिन्दी का ही सहारा पकड़ा था। इन नव प्रयत्नों का सुपरिणाम, जो प्रायः पुष्पाक्षर न्याय से हुआ था, यह हुआ कि हिन्दी-भाषा का प्रचार जनता में पहले की अपेक्षा कुछ अधिक हो गया और भारतेन्दु चट्टोपाध्याय (मृत १८७७-१८४१) अपने कल-बल के साथ हिन्दी-भाषा को अपनाने का, और उसी में अपने भाव प्रकट करने का आदर्श जनता के सामने रख सके। इन लोगों ने अँगरेजी और बँगला से प्रभावित होकर हिन्दी-भाषा में भी काफी सुधार किये और इन भाषाओं के अनेक नाटकों और उपन्यासों का अनुवाद करके तथा अनेक मौलिक पुस्तकें रचकर हिन्दी-भाषा की श्रीवृद्धि की। बँगला और अँगरेजी के साहित्यिक प्रभाव हिन्दी भाषा पर पड़े —

(१) भाषा में शिष्टता और कोमलता आई और उसकी व्यंजना-शक्ति बढ़ गई।

(२) अँगरेजी के विग्राम-चिह्नों का थोड़ा-बहुत प्रयोग होने लगा।

इसका यह फल हुआ कि भाषा स्पष्ट, संगठित और सुलभी हुई होगई। फिर भी भाषा में व्याकरण-सम्बन्धी दोष बने रहे और उसके रूप में भी काफी अस्थिरता और असंयमता चलती रही।

पथ

यह तो हुई गद्य की बात! पद्य की दशा भी लगभग ऐसी ही थी; यद्यपि उसका कलेवर अपेक्षाकृत अधिक उन्नति कर रहा

कहानियों का एक प्रकार से जन्म ही नहीं हुआ था। नाटकों का भी अभाव ही था। इसके सम्बन्ध में स्वयं द्विवेदी जी ने अपने नाट्य-शास्त्र में (२४ नवम्बर सन १९१०) लिखा है—
 “हिन्दी बोलनेवाले, हम लोग, लाभदायक और उपयोगी विषयों को नाटक के रूप में लाकर उनके द्वारा मनोरंजन करने की ओर बहुत ही कम ध्यान देने हैं। यदि कोई नाटक लिखता भी है तो वह प्रायः बेसिरपैर का लिखता है। भाषा ऐसी लचर कि उसके अभिनय की बात तो दूर रही, उसे पुस्तक ही में देखकर दुःख होता है।” पत्र-पत्रिकायें रोज निकलती और बन्द होती थीं। उनमें संपादक लोग प्रायः अपने ही लेख भरा करते थे। हाँ, कभी कभी कुछ तत्त्व-हीन और चापलूसी से भरे लेख भी प्रकाशित हो जाते थे। कुछ लोग समालोचना का नाम अवश्य सुन चुके थे, पर वे उसके वास्तविक अर्थ, उद्देश्य और आदर्श से अनभिज्ञ थे। उस समय हिन्दी के प्रमुख लेखकों ने अपने-अपने दल बना रखे थे, जिनमें ‘परस्पर-प्रशंसा’ की प्रवृत्ति बड़े जोरों पर थी। एक दलवाले दूसरे दल के लेखक की पुस्तक को बुरा अवश्य कहते थे, चाहे हृदय में वे उसे अच्छा ही मानते हों। उनकी समालोचना का लक्ष्य लेखक होता था, पुस्तक नहीं। संक्षेप में उस समय न तो भाषा ही व्याकरण-सम्मत और सुव्यवस्थित हो पाई थी और न उसके साहित्य के किसी अंग की पूर्ति की ओर हो लेखकों का ध्यान गया था। इतिहास, विज्ञान, समाजनीति, धर्मनीति, राजनीति और पुरातत्त्व आदि विषय साहित्य के अंतर्गत नहीं गिने जाते थे। लेखक प्रायः सभी निरंकुश थे। न उनकी कोई शैली थी, न प्रणाली।

उस समय भाषा की क्या दशा थी, इसका ठीक चित्र एक समाचार-पत्र ने इन शब्दों में खींचा है—“उस समय हिन्दी हर तरह से दीन-हीन थी। उसके पास न अपना कोई इतिहास था,

कहानियों का एक प्रकार से जन्म ही नहीं हुआ था। नाटकों का भी अभाव ही था। इसके सम्बन्ध में स्वयं द्विवेदी जी ने अपने नाट्य-शास्त्र में (२४ नवम्बर सन १९१०) लिखा है—
 “हिन्दी बोलनेवाले, हम लोग, लाभदायक और उपयोगी विषयों को नाटक के रूप में लाकर उनके द्वारा मनोरंजन करने की ओर बहुत ही कम ध्यान देते हैं। यदि कोई नाटक लिखता भी है तो वह प्रायः बेसिरपैर का लिखता है। भाषा ऐसी लचर कि उसके अभिनय की बात तो दूर रही, उसे पुस्तक ही में देखकर दुःख होता है।” पत्र-पत्रिकायें रोज निकलती और बन्द होती थीं। उनमें संपादक लोग प्रायः अपने ही लेख भरा करते थे। हाँ, कभी कभी कुछ तर्जुमी-हीन और चापलूसी से भरे लेख भी प्रकाशित हो जाते थे। कुछ लोग समालोचना का नाम अवश्य सुन चुके थे, पर वे उसके वास्तविक अर्थ, उद्देश्य और आदर्श से अनभिज्ञ थे। उस समय हिन्दी के प्रमुख लेखकों ने अपने-अपने दल बना रखे थे, जिनमें ‘परस्पर-प्रशंसा’ की प्रवृत्ति बड़े जोरों पर थी। एक दलवाले दूसरे दल के लेखक की पुस्तक को बुरा अवश्य कहते थे, चाहे हृदय में वे उसे अच्छा ही मानते हों। उनकी समालोचना का लक्ष्य लेखक होता था, पुस्तक नहीं। संक्षेप में उस समय न तो भाषा ही व्याकरण-सम्मत और सुव्यवस्थित हो पाई थी और न उसके साहित्य के किसी अंग की पूर्ति की ओर हो लेखकों का ध्यान गया था। इतिहास, विज्ञान, समाजनीति, धर्मनीति, राजनीति और पुरातत्त्व आदि विषय साहित्य के अंतर्गत नहीं गिने जाते थे। लेखक प्रायः सभी निरंकुश थे। न उनकी कोई शैली थी, न प्रणाली।

उस समय भाषा की क्या दशा थी, इसका ठीक चित्र एक समाचार-पत्र ने इन शब्दों में खींचा है—“उस समय हिन्दी हर तरह से दीन-हीन थी। उसके पास न अपना कोई इतिहास था,

जन्म, शिक्षा और साहित्य-प्रवेश

“जिस व्यक्ति ने बीस वर्षों तक लगातार दस करोड़ हिन्दी-भाषी जनता का साहित्यिक अनुशासन किया वह वैसवाड़े की देहात का रहनेवाला एक सामान्य श्रेणी का ब्राह्मण था। अवध की नवाबी के पर्यवसान के बाद उसी प्रान्त के दौलतपुर नामक निर्धन ग्राम में उसका जन्म हुआ था। अवध—जिस प्रदेश का वह निवासी था—उस समय तक उजड़कर निरक्षरता और दरिद्रता का केन्द्र बन चुका था। किन्तु प्राचीन स्मृतियाँ लुप्त नहीं होती, अतः प्राचीन संस्कार भी सुयोग पाकर कभी पुनर्जन्म ले लेते हैं। गङ्गा को जो धारा कभी अपनी वीचि-रचना के उपलक्ष्य में वाल्मीकि के कवि-कण्ठ का सुवर्णहार प्राप्त करता होगा वह आज भी दौलतपुर के समीप से ही बहती है। वे आम्र-कानन जो निद्रागत पथिकों के मुखों में भी मधुर रस डालते थे, आज भी दौलतपुर के आम्र-पास अपना वही उपहार लिये हुए खड़े हैं। इन्हीं आम्र-काननों के परिपूर्ण यौवन के समय माघव मास में इस ग्राम के एक कान्यकुब्ज-कुल में शिशु महावीरप्रसाद ने सन् १८६४ ई० (सं० १६२१ वैशाख शुक्ल ४) को जन्म लिया। प्रसूतिगृह में उसकी जिह्वा पर सरस्वती का बीजमन्त्र अंकित कर दिया गया। मंत्र-विद्या सत्य सिद्ध हुई।”

द्विवेदी जी के पितामह संस्कृत के भारी विद्वान् थे; पर असमय में ही देहावसान हो जाने से वे अपने पुत्रों को कुछ पढ़ाने-लिखाने नहीं सके थे; जिससे द्विवेदी जी के पिता

जन्म, शिक्षा और साहित्य-प्रवेश

“जिस व्यक्ति ने बीस वर्षों तक लगातार दस करोड़ हिन्दी-भाषी जनता का साहित्यिक अनुशासन किया वह वैसवाड़े की देहात का रहनेवाला एक सामान्य श्रेणी का ब्राह्मण था। अवध की नवाबी के पर्यवसान के बाद उसी प्रान्त के दौलतपुर नामक निर्धन ग्राम में उसका जन्म हुआ था। अवध—जिस प्रदेश का वह निवासी था—उस समय तक उजड़कर निरक्षरता और दरिद्रता का केन्द्र बन चुका था। किन्तु प्राचीन स्मृतियाँ लुप्त नहीं होती, अतः प्राचीन संस्कार भी सुयोग पाकर कभी पुनर्जन्म ले लेते हैं। गङ्गा की जो धारा कभी अपने वीचि-रचना के उपलक्ष्य में वाल्मीकि के कवि-कण्ठ का सुवर्णहार प्राप्त करती होगी वह आज भी दौलतपुर के समीप से ही बहती है। वे आम्र-कानन जो निद्रागत पथिकों के मुखों में भी मधुर रस डालते थे, आज भी दौलतपुर के आम्र-पाम अपना वही उपहार लिये हुए खड़े हैं। इन्हीं आम्र-काननों के परिपूर्ण यौवन के समय माधव मास में इस ग्राम के एक कान्यकुब्ज-कुल में शिशु महावीरप्रसाद ने सन् १८६४ ई० (सं० १६२१ वैशाख शुक्ल ४) को जन्म लिया। प्रसूतिगृह में उसकी जिह्वा पर सरस्वती का बीजमन्त्र अंकित कर दिया गया। मंत्र-विद्या सत्य सिद्ध हुई।”

द्विवेदी जी के पितामह संस्कृत के भारी विद्वान् थे; पर असमय में ही देहावसान हो जाने से वे अपने पुत्रों को कुछ पढ़ाने-लिखाने नहीं सके थे; जिससे द्विवेदी जी के पिता

उधर बहुत चक्कर लगाने पड़े और समय-समय पर बग्गई, नागपुर, अजमेर और भाँसी में रहना पड़ा। हरदा, खंडवा, होशंगाबाद और इटारसी में क्रम-क्रम से इनकी पदोन्नति होती रही। प्रवीणता के कारण तत्कालीन आई० एम० आर० (इंडियन मिडिलैंड रेलवे) के ट्रैफिक मैनेजर श्री डब्ल्यू० वी० राइट ने इन्हें टेलीग्राफ इंस्पेक्टर बनाकर भाँसी भेज दिया। इन्होंने वहाँ नई तरह का एक लाइन-क्लियर ईजाद करके अपनी अनोखी प्रतिभा का परिचय दिया।* इसके बाद इन्होंने तारवर्की पर एक पुस्तक भी अँगरेजी में लिखी। इन दिनों कानपुर से इटारसी और आगरा से मानिकपुर तक की पूरी लाइन का तार-संबंधी काम ये देखते थे।

रेलवे में नौकरी करते हुए भी इनका अध्ययन बराबर जारी रहा। बंगालियों के साथ रहते हुए भाँसी में इन्होंने बँगला सीखी और इस प्रकार वे कई भाषाओं के जानकार हो गये।

साहित्य की ओर द्विवेदी जी का झुकाव आरंभ से ही था वे पण्डितों के गाँव के थे और तो भी उस गाँव के, जहाँ सुखदेव मिश्र जैसे रस-सिद्ध कवि रह चुके थे। मिश्र जी की कविताओं का प्रभाव द्विवेदी जी के बचपन तक उनके गाँव में खूब फैला हुआ था। इसके अतिरिक्त पंडित प्रतापनारायण मिश्र भी बैसवाड़े के ही थे और सज्जनकीर्ति-सुधाकर के सम्पादक पंडित वंशीधर वाजपेयी तो द्विवेदी जी के पड़ोसी ही थे†। बंबई

* 'उस समय भला यह कौन जानता था कि एक दिन ये हिन्दी साहित्य में भी नई तरह का लाइन क्लियर ईजाद करके सदैव के लिए अपने भक्तों के हृदयों में बस जायेंगे।'

† इस वायुमंडल का असर द्विवेदी जी पर पड़ ही चुका था।

उधर बहुत चक्कर लगाने पड़े और समय-समय पर बगवई, नागपुर, अजमेर और भाँसी में रहना पड़ा। हरदा, खंडवा, होशंगाबाद और इटारसी में क्रम-क्रम से इनकी पदोन्नति होती रही। प्रवीणता के कारण तत्कालीन आई० एम० आर० (इंडियन मिडिलैंड रेलवे) के ट्रैफिक मैनेजर श्री डब्ल्यू० वी० राइट ने इन्हें टेलीग्राफ इन्स्पेक्टर बनाकर भाँसी भेज दिया। इन्होंने वहाँ नई तरह का एक लाइन-क्लियर ईजाद करके अपनी अनोखी प्रतिभा का परिचय दिया।* इसके बाद इन्होंने तारवर्की पर एक पुस्तक भी अँगरेजी में लिखी। इन दिनों कानपुर से इटारसी और आगरा से मानिकपुर तक की पूरी लाइन का तार-संबंधी काम ये देखते थे।

रेलवे में नौकरी करते हुए भी इनका अध्ययन बराबर जारी रहा। बंगालियों के साथ रहते हुए भाँसी में इन्होंने बँगला सीखी और इस प्रकार वे कई भाषाओं के जानकार हो गये।

साहित्य की ओर द्विवेदी जी का झुकाव आरंभ से ही था वे पण्डितों के गाँव के थे और सो भी उस गाँव के, जहाँ सुखदेव मिश्र जैसे रस-सिद्ध कवि रह चुके थे। मिश्र जी की कविताओं का प्रभाव द्विवेदी जी के बचपन तक उनके गाँव में खूब फैला हुआ था। इसके अतिरिक्त पंडित प्रतापनारायण मिश्र भी वैसवाड़े के ही थे और सज्जनकीर्ति-सुधाकर के सम्पादक पंडित वंशीधर वाजपेयी तो द्विवेदी जी के पड़ोसी ही थे†। बंबई

* 'उस समय मला यह कौन जानता था कि एक दिन ये हिन्दी-साहित्य में भी नई तरह का लाइन क्लियर ईजाद करके सदैव के लिए अपने भक्तों के हृदयों में बस जायेंगे।'

† इस वायुमंडल का असर द्विवेदी जी पर पड़ ही चुका था।

लगी थी। द्विवेदी जी उस समय तक हिन्दी के अच्छे लेखक माने जा चुके थे। सरस्वती के ५-६ अंक प्रकाशित हो जाने पर भी जब उन्होंने उसके लिए कोई लेख न भेजा तब उसके प्रधान सम्पादक बाबू कार्तिकप्रसाद ने उनके पास यह पत्र लिखा—

सरस्वती-संपादक-समिति-कार्यालय

गढ़वासी टोला,

वनारस सिटी,

२६-६-१९००

महाशय,

अभी तक आपने अपने किसी लेख से 'सरस्वती' को भूषित नहीं किया जिसके लिये सरस्वती की प्रार्थना है कि शीघ्र उसकी सुधि लीजिये।

आपका—

कार्तिकप्रसाद

द्विवेदी जी ही नहीं, द्विवेदी जी का भाग्य भी 'सरस्वती' की सुधि लेने के लिए उतावला बैठा था। धीरे-धीरे उसमें इनके लेख और कवितायें प्रकाशित होने लगीं और 'सरस्वती' से उनका सम्बन्ध बढ़ने लगा। उस समय वे भाँसी में डी० टी० एस० (डिस्ट्रिक्ट ट्रैफिक सुपरिंटेंडेंट) के आफिस में चीफ क्लर्क थे। इसी सिलसिले में उनका परिचय एक ऐसे महापुरुष से हुआ जिनके सम्पर्क और सहयोग ने द्विवेदी जी के जीवन की दिशा ही बदल दी। ये थे इंडियन प्रेस के स्वामी बाबू चिन्तामणि घोष।

लगी थी। द्विवेदी जी उस समय तक हिन्दी के अच्छे लेखक माने जा चुके थे। सरस्वती के ५-६ अंक प्रकाशित हो जाने पर भी जब उन्होंने उसके लिए कोई लेख न भेजा तब उसके प्रधान सम्पादक बाबू कार्तिकप्रसाद ने उनके पास यह पत्र लिखा—

सरस्वती-संपादक-समिति-कार्यालय

गढ़वासी टोला,

वनारस सिटी,

२६-६-१९००

महाशय,

अभी तक आपने अपने किसी लेख से 'सरस्वती' को भूषित नहीं किया जिसके लिये सरस्वती की प्रार्थना है कि शीघ्र उसकी सुधि लीजिये।

आपका—

कार्तिकप्रसाद

द्विवेदी जी ही नहीं, द्विवेदी जी का भाग्य भी 'सरस्वती' की सुधि लेने के लिए उतावला बैठा था। धीरे-धीरे उसमें इनके 'लेख और कवितायें प्रकाशित होने लगीं और 'सरस्वती' से उनका सम्बन्ध बढ़ने लगा। उस समय वे भाँसी में डी० टी० एस० (डिस्ट्रिक्ट ट्रैफ़िक सुपरिंटेंडेंट) के आफिस में चीफ़ क्लर्क थे। इसी सिलसिले में उनका परिचय एक ऐसे महापुरुष से हुआ जिनके सम्पर्क और सहयोग ने द्विवेदी जी के जीवन की दिशा ही बदल दी। ये थे इंडियन प्रेस के स्वामी बाबू चिन्तामणि घोष।

विषय में पूछ-ताँछ करते थे। फिर कुछ गुजराती, बँगला, संस्कृत-पत्रिकाओं का अवलोकन करते और उसके बाद थोड़ी देर खुद भी लिखते तथा 'सरस्वती' के लेखों का संपादन करते। १० बजे के करीब भोजन करके दफ्तर जाते। वहाँ जो सिर झुकाया तो १ बजे तक ढेर की ढेर फाइलों को साफ़ करके तब २ बजे के करीब उठकर कुछ जलपान किया करते। लौटकर अँगरेजी अखबार अवलोकन करते और जो काम आता जाता उसे समाप्त करते। चार-पाँच बजे के करीब घर आकर हाथ-मुँह धोकर कपड़े बदलकर दरवाजे पर बैठ जाते। जो लोग आते उनसे वार्त्तालाप होता। किसी को नेक सलाह देना, किसी की जरूरत पूरी कराने की चिन्ता करना—घंटे डेढ़ घंटे यही दिलबहलाव होता। इसके बाद फिर किताबों का अवलोकन करके ६-१० बजे तक विस्तर पर चले जाते।

इन्हीं दिनों एक ऐसी घटना हो गई जिसने द्विवेदी जी को पूर्णतया साहित्य के क्षेत्र में लाकर रख दिया। पुराने डी० टी० एस० (डिस्ट्रिक्ट ट्रेफिक सुपरिंटेंडेंट) की बदली होने पर उनकी जगह जो नये साहब आये उनसे और द्विवेदी जी से एक दिन कहा-सुनी हो गई। स्वाभिमानी तो द्विवेदी जी थे ही; आपने रेलवे की (१५०) की नौकरी पर लात मार दी और आकर कानपुर के पास जुही में रहने लगे और वहीं से 'सरस्वती' का संपादन करने लगे।

विषय में पूछ-ताँछ करते थे। फिर कुछ गुजराती, बँगला, संस्कृत-पत्रिकाओं का अवलोकन करते और उसके बाद थोड़ी देर खुद भी लिखते तथा 'सरस्वती' के लेखों का संपादन करते। १० बजे के करीब भोजन करके दफ्तर जाते। वहाँ जो सिर भुकाया तो १ बजे तक ढेर की ढेर फाइलों को साफ़ करके तब २ बजे के करीब उठकर कुछ जलपान किया करते। लौटकर अँगरेजी अखबार अवलोकन करते और जो काम आता जाता उसे समाप्त करते। चार-पाँच बजे के करीब घर आकर हाथ-मुँह धोकर कपड़े बदलकर दरवाजे पर बैठ जाते। जो लोग आते उनसे वार्त्तालाप होता। किसी को नेक सलाह देना, किसी की जरूरत पूरी कराने की चिन्ता करना—घंटे डेढ़ घंटे यही दिलबहलाव होता। इसके बाद फिर किताबों का अवलोकन करके ६-१० बजे तक विस्तर पर चले जाते।

इन्हीं दिनों एक ऐसी घटना हो गई जिसने द्विवेदी जी को पूर्णतया साहित्य के क्षेत्र में लाकर रख दिया। पुराने डी० टी० ए० (डिस्ट्रिक्ट ट्रेफ़िक सुपरिंटेंडेंट) की बदली होने पर उनकी जगह जो नये साहब आये उनसे और द्विवेदी जी से एक दिन कहा-सुनी हो गई। स्वाभिमानी तो द्विवेदी जी थे ही; आपने रेलवे की (१५०) की नौकरी पर लात मार दी और आकर कानपुर के पास जुही में रहने लगे और वहीं से 'सरस्वती' का संपादन करने लगे।

सुधा' को ही प्रसिद्धि मिली। सरकार ने भी धन और पद द्वारा भारतेन्दु की सेवाओं का मान किया। परन्तु जब वायू हरिश्चन्द्र राजनैतिक मामलों में टीका-टिप्पणी करने लगे तब सरकार ने सहायता बन्द कर दी। 'अभिमान' हरिश्चन्द्र' इससे हतोत्साह नहीं हुए और 'कविवचन-सुधा' को कुछ समय तक प्रकाशित करते रहे। सन १८८५ में यह पत्रिका भी बन्द हो गई।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पत्रिका-प्रकाशन-सम्बन्धी इस सदुद्योग का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि हिन्दी के लेखकों का एक अन्ध-सङ्ग स्थापित हो गया। भारतेन्दु की दृढ़ता और उनके स्वाभिमान ने उन लेखकों के हृदय में हिन्दी-भाषा के प्रति प्रेम उत्पन्न कर दिया। अतः इन लेखकों को भी पत्र-पत्रिकाएँ निकालने का शौक हुआ और भारतेन्दु के जीवन-काल में ही हिन्दी में २०-२५ पत्र प्रकाशित होने लगे। इनमें से कुछ पत्र-पत्रिकाओं और उनके संपादकों के नाम इस प्रकार हैं—

पत्र-पत्रिका का नाम	समय	संपादक	स्थान
(१) अलमोड़ा-अखबार	सन १८७१	श्री सदानंद	मालवीय, अलमोड़ा
(२) हिन्दी-दीप्ति-प्रकाश	१८७२	कार्तिकप्रसाद ग्वरी	
(३) विहार-बंधु	१८७२	केशवराम भट्ट, विहार	
(४) मदादर्श	१८७४	निवासदास, दिल्ली	
(५) काशी-पत्रिका	१८७६	लक्ष्मीशंकर मिश्र, एम० ए०, काशी	
(६) भारत-बंधु	१८७६	तोताराम,	अलीगढ़
(७) भारत-मित्र	१८७७	रुद्रदत्त,	कलकत्ता
(८) मित्र-विलास	" "	कन्हैयालाल,	लाहौर

सुधा' को ही प्रसिद्धि मिली। सरकार ने भी धन और पद द्वारा भारतेन्दु की सेवाओं का मान किया। परन्तु जब वायू हरिश्चन्द्र राजनैतिक मानकों में टीका-टिप्पणी करने लगे तब सरकार ने सहायता बन्द कर दी। 'अभिमानि हरिश्चन्द्र' इससे हतोत्साह नहीं हुए और 'कविवचन-सुधा' को कुछ समय तक प्रकाशित करते रहे। सन १८८५ में यह पत्रिका भी बन्द हो गई।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पत्रिका-प्रकाशन-सम्बन्धी इस सदुद्योग का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि हिन्दी के लेखकों का एक अन्ध्रा सङ्घ स्थापित हो गया। भारतेन्दु की हठता और उनके स्वाभिमान ने उन लेखकों के हृदय में हिन्दी-भाषा के प्रति प्रेम उत्पन्न कर दिया। अतः इन लेखकों को भी पत्र-पत्रिकाएँ निकालने का शौक हुआ और भारतेन्दु के जीवन-काल में ही हिन्दी में २०-२५ पत्र प्रकाशित होने लगे। इनमें से कुछ पत्र-पत्रिकाओं और उनके संपादकों के नाम इस प्रकार हैं—

पत्र-पत्रिका का नाम	समय	संपादक	स्थान
(१) अलमोड़ा-अखबार	सन १८७१	श्री सदानंद	मालवीय, अलमोड़ा
(२) हिन्दी-दीप्ति-प्रकाश	१८७२	कार्तिकप्रसाद खत्री	
(३) विहार-बंधु	१८७२	केशवराम भट्ट, विहार	
(४) मदादर्श	१८७४	निवासदास, दिल्ली	
(५) काशी-पत्रिका	१८७६	लक्ष्मीशंकर मिश्र, एम० ए०, काशी	
(६) भारत-बंधु	१८७६	तोताराम, अलीगढ़	
(७) भारत-मित्र	१८७७	रुद्रदत्त, कलकत्ता	
(८) मित्र-विलास	" "	कन्हैयालाल, लाहौर	

आदि अनेक पत्र और भी निकलते थे। पर इनमें से अधिकांश शीघ्र ही बंद हो गये।

इन पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशित होने से इतना लाभ अवश्य हुआ कि लोग हिन्दी की सेवा की और ध्यान देने लगे। परन्तु भारतेन्दु-सरोखे उत्साही लेखकों के पश्चान् हिन्दी की दशा फिर ढायाँढोल हो चली। लोग उर्दू को अपनाने लगे; उसी की पुस्तकें खपती और बिकती थीं—हिन्दी की कभी एक-आध पुस्तक छप गई तो छप गई। एक बार किसी ने स्वर्गीय राय बहादुर लाला त्रैलोक्य से पूछा था—आप हिन्दी तो गूढ़ लिख सकते हैं। फिर अपनी पुस्तकें अधिकतर उर्दू में ही क्यों छपवाते हैं? उन्होंने उत्तर दिया—हिन्दी की पुस्तकों की कोई बात भी पूछता है? 'विधवा-विवाद' पर लिखी हुई हिन्दी की मेरी पुस्तक की प्रतियाँ आज भी मेरे पास पड़ी हुई हैं, पर उनका जो उल्था उर्दू में निकला था उसका दूसरा संस्करण भी प्रकाशित हो चुका है।

हिन्दी के लिए वास्तव में यह बड़े संकट का समय था; पर भाग्य ने साथ दिया। सन् १८६२ में कुछ हिन्दी-प्रेमियों ने, जिनमें बाबू श्यामसुन्दरदास और पंडित रामनारायण मिश्र मुख्य थे, काशी में नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना की। इस संस्था ने हिन्दी-प्रचार का कार्य बड़े जोर से करना आरंभ किया; शीघ्र ही बहुत से पढ़े-लिखे लोग इसके कार्यों की प्रशंसा करने लगे। इस संस्था के कार्य-कर्त्ताओं के प्रयत्न करने पर सन् १८७० में सरकारी कचहरियों में नागरी का प्रवेश हो गया।

इसी साल इंडियन प्रेस के स्वामी स्वर्गीय बाबू चिन्तामणि घोष ने 'सरस्वती' नाम की पत्रिका को काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से जन्म दिया। इस पत्रिका का पहला अंक

आदि अनेक पत्र और भी निकलते थे। पर इनमें से अधिकांश शीघ्र ही बंद हो गये।

इन पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशित होने से इतना लाभ अवश्य हुआ कि लोग हिन्दी की सेवा की और ध्यान देने लगे। परन्तु भारतेन्दु-सरोज उस्तादी लेखकों के पश्चान् हिन्दी की दशा फिर डावाँडोल हो चली। लोग उर्दू को अपनाने लगे; उसी की पुस्तकें खपती और बिकती थीं—हिन्दी की कभी एक-आध पुस्तक छप गई तो छप गई। एक बार किसी ने स्वर्गीय राय बहादुर लाला वैजनाथ से पूछा था—आप हिन्दी तो गूढ़ लिख सकते हैं। फिर अपनी पुस्तकें अधिकतर उर्दू में ही क्यों छपवाते हैं? उन्होंने उत्तर दिया—हिन्दी की पुस्तकों की कोई बात भी पृष्ठता है? 'विधवा-विवाह' पर लिखी हुई हिन्दी की मेरी पुस्तक की प्रतियाँ आज भी मेरे पास पड़ी हुई हैं, पर उनका जो उल्था उर्दू में निकला था उसका दूसरा संस्करण भी प्रकाशित हो चुका है।

हिन्दी के लिए वास्तव में यह बड़े संकट का समय था; पर भाग्य ने साथ दिया। सन् १८६३ में कुछ हिन्दी-प्रेमियों ने, जिनमें बाबू श्यामसुन्दरदास और पंडित रामनारायण मिश्र मुख्य थे, काशी में नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना की। इस संस्था ने हिन्दी-प्रचार का कार्य बड़े जोर से करना आरंभ किया; शीघ्र ही बहुत से पढ़े-लिखे लोग इसके कार्यों की प्रशंसा करने लगे। इस संस्था के कार्य-कर्त्ताओं के प्रयत्न करने पर सन् १८७० में सरकारी कचहरियों में नागरी का प्रवेश हो गया।

इसी साल इंडियन प्रेस के स्वामी स्वर्गीय बाबू चिन्तामणि घोष ने 'सरस्वती' नाम की पत्रिका को काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से जन्म दिया। इस पत्रिका का पहला अंक

‘सरस्वती’ में विविध विषय

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में पत्र-पत्रिकाओं में प्रायः एक ही विषय की प्रधानता रहती थी। स्वयं भारतेन्दु जी की ‘कवि-वचन-सुधा’ में प्राचीन कवियों का काव्य ही प्रकाशित होता था। देव का ‘अष्टयास’, चन्द का ‘रासो’, जायसी का ‘पद्मावत’, कबीर की साखियाँ, बिहारी के दोहे आदि के ही प्रकाशन की ओर लोग दृष्टिचित्त थे। पर शीघ्र ही इस प्रथा का अंत हो गया। ‘कवि-वचन-सुधा’ पाक्षिक होकर साप्ताहिक हो गई; ‘हरिश्चन्द्र-मैगजीन’ भी निकली। धीरे-धीरे इनमें समाज-नीति और धर्म-नीति पर भी लेख निकलने लगे। भारतेन्दु जी का, कालान्तर में, ध्यान देश की दशा की ओर गया। अतः राजनीति पर भी लेख निकलने आरम्भ हुए। उनका सिद्धान्त-वाक्य यह था—

खल गगन से सज्जन दुखी मति होहि, हरि पद मति रहै।

अपधर्म छूटै स्वतः निज भारत गहै कर-दुख वहै॥

बुध तजहिं मत्सर, नारि-नर सम होहि जग आनंद ल है।

तजि ग्राम कविता सुकविजन की अमृत-वानी सब कहै॥

इन पंक्तियों के रेखांकित भागों पर गौर करने से विदित होता है कि भारतेन्दु जी के इस सिद्धान्त में राजनीति, समाज-नीति, धर्मनीति, सबकी चिन्ता है। वे शिक्षित समाज, अंगरेज-शासकों और पुरानी लकीर के फकीरों पर भी निडर होकर साफ-साफ छींटे फेंका करते थे। ‘हरिश्चन्द्र मैगजीन’ में भारतेन्दु का ‘पाँचवें पैगम्बर’, श्री ज्वालाप्रसाद की

‘सरस्वती’ में विविध विषय

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में पत्र-पत्रिकाओं में प्रायः एक ही विषय की प्रधानता रहती थी। स्वयं भारतेन्दु जी की ‘कवि-वचन-सुधा’ में प्राचीन कवियों का काव्य ही प्रकाशित होता था। देव का ‘अष्टयाम’, चन्द का ‘रासो’, जायसी का ‘पद्मावत’, कबीर की साखियाँ, बिहारी के दोहे आदि के ही प्रकाशन की ओर लोग दत्तचित्त थे। पर शीघ्र ही इस प्रथा का अंत हो गया। ‘कवि-वचन-सुधा’ पाक्षिक होकर साप्ताहिक हो गई; ‘हरिश्चन्द्र-मैगजीन’ भी निकली। धीरे-धीरे इनमें समाज-नीति और धर्म-नीति पर भी लेख निकलने लगे। भारतेन्दु जी का, कालान्तर में, ध्यान देश की दशा की ओर गया। अतः राजनीति पर भी लेख निकलने आरम्भ हुए। उनका सिद्धान्त-वाक्य यह था—

खल गगन सेां सज्जन दुखी मति होहि, हरि पद मति रहै।

अपधर्म छूटै स्वत्व निज भारत गहै कर-दुख वहै ॥

बुध तजहिं मत्सर, नारि-नर सम होंहि जग आनंद ल है।

तजि ग्राम कविता सुकविजन की अमृत-बानी सब कहै ॥

इन पंक्तियों के रेखांकित भागों पर गौर करने से विदित होता है कि भारतेन्दु जी के इस सिद्धान्त में राजनीति, समाज-नीति, धर्मनीति, सबकी चिन्ता है। वे शिक्षित समाज, अँगरेज-शासकों और पुरानी लकीर के फकीरों पर भी निडर होकर साफ़-साफ़ छींटे फेंका करते थे। ‘हरिश्चन्द्र मैगजीन’ में भारतेन्दु का ‘पाँचवें पैगम्बर’, श्री ज्वालाप्रसाद की

उक्तदोनों पत्रिकाओं के बाद पण्डित प्रतापनारायण मिश्र के ‘ब्राह्मण’ और वालकृष्ण भट्ट के ‘हिन्दी-प्रदीप’ का नंबर आता है। मिश्र जी ने अपने ‘ब्राह्मण’ का उद्देश ‘हमारी आवश्यकता’ शीर्षक लेख में इस प्रकार लिखा है—

“जी बहलाने के लेख हमारे पाठकों ने ; बहुत से पढ़ लिये। यद्यपि इनमें भी बहुत सी समयोपयोगी शिक्षा रहती है, पर वाग्-जाल में फँसी हुई हूँ निकालने-योग्य; अतः अब हमारा विचार है कि कभी कभी ऐसी बातें भी लिखा करें जो इस काल के लिए प्रयोजनीय हों तथा हास्यपूर्ण न होके सीधी सीधी भाषा में हों। हमारे पाठकों का काम है कि उन्हें नीरस समझ के छोड़ न दिया करें, तथा केवल पढ़ ही न डाला करें, बरंच उनके लिए तन से धन, से, कुछ न हो सके तो वचन ही से यथावकाश कुछ करते भी रहें।”

मिश्र जी के इस कथन से स्पष्ट होता है कि साहित्य-सेवा के साथ-साथ ‘ब्राह्मण’ का उद्देश्य जन-साधारण की प्रवृत्ति को हिंदी की ओर आकर्षित करना था। मिश्र जी साहित्यिक उत्थान के साथ-साथ तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों का निवारण भी चाहते थे। उन्होंने अनेक लेखों में समाज के दोषों का उल्लेख भी किया।

इसके विपरीत भट्ट जी का ‘हिन्दी-प्रदीप’ एक साहित्यिक पत्र था उसमें कभी-कभी राजनीति के लेख भी छपा करते थे। हाँ, सामाजिक लेख कुछ कम होते थे। यह पत्र लगभग ३० वर्ष तक निकलता रहा। इसकी साहित्यिक सेवाओं के विषय में भट्ट जी ने स्वयं ही लिखा है:—

“इन वत्सीय साज की जिल्दों में कितने ही उत्तमोत्तम उपन्यास, नाटक, तथा अन्यान्य प्रबन्ध भरे पड़े हैं। वे यदि पुस्तकाकार छपा

उक्तदोनों पत्रिकाओं के बाद पण्डित प्रतापनारायण मिश्र के ‘ब्राह्मण’ और वालकृष्ण भट्ट के ‘हिन्दी-प्रदीप’ का नंबर आता है। मिश्र जी ने अपने ‘ब्राह्मण’ का उद्देश्य ‘हमारी आवश्यकता’ शीर्षक लेख में इस प्रकार लिखा है—

“जी बहलाने के लेख हमारे पाठकों ने ; बहुत से पढ़ लिये। यद्यपि इनमें भी बहुत सी समयोपयोगी शिक्षा रहती है, पर वाग्-जाल में फँसी हुई हूँ निकालने-योग्य; अतः अब हमारा विचार है कि कभी कभी ऐसी बातें भी लिखा करें जो इस काल के लिए प्रयोजनीय हों तथा हास्यपूर्ण न होके सीधी सीधी भाषा में हों। हमारे पाठकों का काम है कि उन्हें नीरस समझ के छोड़ न दिया करें, तथा केवल पढ़ ही न डाला करें, बरंच उनके लिए तन से धन, से, कुछ न हो सके तो वचन ही से यथावकाश कुछ करते भी रहें।”

मिश्र जी के इस कथन से स्पष्ट होता है कि साहित्य-सेवा के साथ-साथ ‘ब्राह्मण’ का उद्देश्य जन-साधारण की प्रवृत्ति को हिंदी की ओर आकर्षित करना था। मिश्र जी साहित्यिक उत्थान के साथ-साथ तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों का निवारण भी चाहते थे। उन्होंने अनेक लेखों में समाज के दोषों का उल्लेख भी किया।

इसके विपरीत भट्ट जी का ‘हिन्दी-प्रदीप’ एक साहित्यिक पत्र था उसमें कभी-कभी राजनीति के लेख भी छपा करते थे। हाँ, सामाजिक लेख कुछ कम होते थे। यह पत्र लगभग ३० वर्ष तक निकलता रहा। इसकी साहित्यिक सेवाओं के विषय में भट्ट जी ने स्वयं ही लिखा है:—

“इन बत्तीस साल की जिल्दों में कितने ही उत्तमोत्तम उपन्यास, नाटक, तथा अन्यान्य प्रबन्ध भरे पड़े हैं। वे यदि पुस्तकाकार छपा

अंगरेजी, उर्दू, संस्कृत, फारसी, आदि की अनिवार्य शिक्षा से शिक्षित होकर निकल रहे थे; और कालेजों में तो शास्त्र इतने पढ़ाये जा रहे थे जितने स्वयं शुकदेव जी ने भी पढ़े होंगे। यद्यपि यह बहुत ही झिझली शिक्षा थी, परन्तु इससे जिस एकमात्र उत्कृष्ट वृत्ति का विकास हुआ वह थी परिचय की वृत्ति। उस परिचय में प्राण्डित्य चाहे न हो, परन्तु एक अभिज्ञता जो कभी व्यर्थ नहीं जाती, संचित की गई थी। उस समय यह परिचय की आकांक्षा समाज में सर्वत्र देखी जाती थी; अतः उसकी वृत्ति का भी विधान होने लगा। जो पत्र-पत्रिकाएँ अंगरेजी में निकलीं उनमें यद्यपि आवश्यक विषय-वैचित्र्य था, किन्तु जनता तक उनकी पहुँच नहीं थी।” द्विवेदी जी को यह कमी बहुत अखरती थी। अब ‘सरस्वती’-द्वारा उन्होंने इस कमी को पूरा करने का निश्चय किया। उद्देश्य की पूर्ति में एक बाधा यह थी कि जनता में पढ़ने का शौक बहुत ही कम था। अतः उन्होंने पहले अपने पाठकों की रुचि को हिंदीसाहित्य की ओर आकर्षित करने की चेष्टा की। ‘सरस्वती’ के एक अंक में उन्होंने लिखा—

“लेखों से ‘सरस्वती’ की सहायता करनेवाले सज्जनों से प्रार्थना है कि अब वे अपने लेखों को पहले की अपेक्षा अधिक रोचक बनाने की कृपा करें।”

ऊपर हम लिख चुके हैं कि पण्डित प्रतापनारायण मिश्र ने भी एक बार अपने लेखकों से ऐसी ही प्रार्थना की थी। पर परिस्थिति ने उनका साथ न दिया और उन्हें ‘ब्राह्मण’ को शीघ्र ही बन्द कर देना पड़ा। द्विवेदी जी इसे देख चुके थे, इसलिए सावधान थे। शीघ्र ही उन्होंने अपने लेखकों और पाठकों को अधिक गंभीर और ठोस लेखों के प्रति अभिरुचि बढ़ाने के लिए उत्साहित किया और बढ़ती हुई तबीयत शिक्षा द्वारा शिक्षित तबयुवक पाठकों की

अँगरेजी, उर्दू, संस्कृत, फारसी, आदि की अनिवार्य शिक्षा से शिक्षित होकर निकल रहे थे; और कालेजों में तो शास्त्र इतने पढ़ाये जा रहे थे जितने स्वयं शुकदेव जी ने भी न पढ़े होंगे। यद्यपि यह बहुत ही छिछली शिक्षा थी, परन्तु इससे जिस एकमात्र उत्कृष्ट वृत्ति का विकास हुआ वह थी परिचय की वृत्ति। उस परिचय में पांडित्य चाहे न हो, परन्तु एक अभिज्ञता जो कभी व्यर्थ नहीं जाती, संचित की गई थी। उस समय यह परिचय की आकांक्षा समाज में सर्वत्र देखी जाती थी; अतः उसकी वृत्ति का भी विधान होने लगा। जो पत्र-पत्रिकाएँ अँगरेजी में निकलीं उनमें यद्यपि आवश्यक विषय-वैचित्र्य था, किन्तु जनता तक उनकी पहुँच नहीं थी।” द्विवेदी जी को यह कमी बहुत अखरती थी। अब ‘सरस्वती’-द्वारा उन्होंने इस कमी को पूरा करने का निश्चय किया। उद्देश्य की पूर्ति में एक बाधा यह थी कि जनता में पढ़ने का शौक बहुत ही कम था। अतः उन्होंने पहले अपने पाठकों की रुचि को हिंदीसाहित्य की ओर आकर्षित करने की चेष्टा की। ‘सरस्वती’ के एक अंक में उन्होंने लिखा—

“लेखों से ‘सरस्वती’ की सहायता करनेवाले सज्जनों से प्रार्थना है कि अब वे अपने लेखों को पहले की अपेक्षा अधिक रोचक बनाने की कृपा करें।”

ऊपर हम लिख चुके हैं कि पण्डित प्रतापनारायण मिश्र ने भी एक बार अपने लेखकों से ऐसी ही प्रार्थना की थी। पर परिस्थिति ने उनका साथ न दिया और उन्हें ‘ब्राह्मण’ को शीघ्र ही बन्द कर देना पड़ा। द्विवेदी जी इसे देख चुके थे, इसलिए सावधान थे। शीघ्र ही उन्होंने अपने लेखकों और पाठकों को अधिक गंभीर और ठोस लेखों के प्रति अभिरुचि बढ़ाने के लिए उत्साहित किया और बढ़ती हुई नवीन शिक्षा द्वारा शिक्षित नवयुवक पाठकों की

था कि अवसर पाते ही उन्होंने ‘सरस्वती’ को विभिन्न विषयों से विभूषित करके उसे विचार की अपेक्षा प्रचार की पत्रिका बनाया। संस्कृत-साहित्य, जीवन-चरित, इतिहास, पुरातत्त्व, विज्ञान, अध्यात्म-विद्या, संपत्तिशास्त्र, हिन्दी-भाषा, शासन-पद्धति, शिक्षा, प्राचीन अनुसंधान, यात्रा-विवरण, नवीन अभ्युत्थान का परिचय, समाज-तत्त्व, दर्शन, संगीत, चित्रकला, नीति आदि अनेकानेक विषयों के लेख ‘सरस्वती’ में प्रकाशित होने लगे। संपादक के लिए तो इनमें से अधिकांश विषयों का ज्ञान वे आवश्यक भी समझते थे। बँगला के ‘प्रवासी’ में ‘संपादकों को किन विषयों का ज्ञान होना चाहिए,’ इस पर एक लेख छपा था। उसी की बातों का समर्थन करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा था—

“संपादकों को इन शास्त्रों और इन विषयों का ज्ञान अवश्य होना चाहिए—इतिहास, संपत्तिशास्त्र, राष्ट्र-विज्ञान, समाज तत्त्व, व्यवस्था-विज्ञान (Jurisprudence), अपराध-तत्त्व (Criminology), अनेक लौकिक और वैषयिक व्यापारों का संख्या-संबंधी शास्त्र (Statistics), पौर और जानपद वर्ग के अधिकार और कर्तव्य, अनेक देशों की शासन-प्रणाली, शांतिरक्षा और स्वास्थ्य-रक्षा का विवरण, शिक्षा पद्धति और कृषि-वाणिज्य का वृत्तान्त। देश का स्वास्थ्य किस तरह सुधर सकता है, कृषि, शिल्प और वाणिज्य की उन्नति कैसे हो सकती है, शिक्षा का विस्तार और उत्कर्ष-साधन कैसे किया जा सकता है, किन उपायों के अवलम्बन से हम राष्ट्र-सम्बन्धी नाना प्रकार के अधिकार पा सकते हैं, सामाजिक कुरीतियों को किस प्रकार दूर कर सकते हैं—इत्यादि अनेक उपयोगी विषयों पर संपादकों को लेख लिखना चाहिए।”

था कि अवसर पाते ही उन्होंने ‘सरस्वती’ को विभिन्न विषयों से विभूषित करके उसे विचार की अपेक्षा प्रचार की पत्रिका बनाया। संस्कृत-साहित्य, जीवन-चरित, इतिहास, पुरातत्त्व, विज्ञान, अध्यात्म-विद्या, संपत्तिशास्त्र, हिन्दी-भाषा, शासन-पद्धति, शिक्षा, प्राचीन अनुसंधान, यात्रा-विवरण, नवीन अभ्युत्थान का परिचय, समाज-तत्त्व, दर्शन, संगीत, चित्रकला, नीति आदि अनेकानेक विषयों के लेख ‘सरस्वती’ में प्रकाशित होने लगे। संपादक के लिए तो इनमें से अधिकांश विषयों का ज्ञान वे आवश्यक भी समझते थे। बँगला के ‘प्रवासी’ में ‘संपादकों को किन विषयों का ज्ञान होना चाहिए,’ इस पर एक लेख छपा था। उसी की बातों का समर्थन करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा था—

“संपादकों को इन शास्त्रों और इन विषयों का ज्ञान अवश्य होना चाहिए—इतिहास, संपत्तिशास्त्र, राष्ट्र-विज्ञान, समाज तत्त्व, व्यवस्था-विज्ञान (Jurisprudence), अपराध-तत्त्व (Criminology), अनेक लौकिक और वैपयिक व्यापारों का संख्या-संबंधी शास्त्र (Statistics), पौर और जानपद वर्ग के अधिकार और कर्तव्य, अनेक देशों की शासन-प्रणाली, शांतिरक्षा और स्वास्थ्य-रक्षा का विवरण, शिक्षा पद्धति और कृषि-वाणिज्य का वृत्तांत। देश का स्वास्थ्य किस तरह सुधर सकता है, कृषि, शिल्प और वाणिज्य की उन्नति कैसे हो सकती है, शिक्षा का विस्तार और उत्कर्ष-साधन कैसे किया जा सकता है, किन उपायों के अवलम्बन से हम राष्ट्र-सम्बन्धी नाना प्रकार के अधिकार पा सकते हैं, सामाजिक कुरीतियों को किस प्रकार दूर कर सकते हैं—इत्यादि अनेक उपयोगी विषयों पर संपादकों को लेख लिखना चाहिए।”

भेजा उसका सारांश यह था कि अमुक-अमुक पुस्तकों में इस विषय की सुन्दर विवेचना की गई है। लेखक महाशय को चाहिए कि उन्हें एक बार पढ़ें और तब अपना लेख सुधार कर प्रकाशित करायें। ऐसा था द्विवेदी जी का विस्तृत अध्ययन, जिसका कायल सबको होना पड़ता था।

ऊपर जिन विषयों की सूची दी गई है उनमें अधिकांश बड़े शुष्क और गम्भीर हैं; फिर नये विषयों की ओर साधारण जनता का ध्यान आकर्षित करना आसान भी नहीं होता। द्विवेदी जी को इन सभी बातों का ध्यान रखना पड़ता था। अतः विषय को रोचक और शैली को सरल और स्पष्ट बनाने का वे सदा ही प्रयत्न किया करते थे। फलतः ‘सरस्वती’ में प्रकाशित लेखों में गम्भीरता के साथ साथ प्रचुर मात्रा में रोचकता, सरलता और माधुर्य भी मिलता था; ज्योतिष, वेदाङ्ग आदि रूखे-सूखे विषयों पर भी बड़े मनोमोहक और रोचक लेख उन्होंने लिखवाये। इससे ‘सरस्वती’ का जनता में बड़ा आदर होने लगा।

सामयिक विषयों का चयन और सङ्कलन करते समय वे एक आदर्शवादी सुधारक बन जाते थे। भारतवासी अपनी प्राचीन संस्कृति, भाषा, साहित्य आदि की रक्षा करें, यही उनका उद्देश्य और आदर्श था। अतः वे अपने पाठकों को संसार में आज कैसी उन्नति हो रही है, कौन-कौन देश उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहे हैं, भारत की वास्तविक स्थिति और दशा क्या है, आदि बातों से पूर्ण परिचित रखना अपना कर्तव्य समझते थे। इसके लिए उन्हें बड़ा परिश्रम करना पड़ता था; प्रायः अँगरेजी, मराठी, बँगला, गुजराती आदि भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं की उल्लेखनीय टिप्पणियों का अनुवाद वे ‘सरस्वती’

भेजा उसका सारांश यह था कि अमुक-अमुक पुस्तकों में इस विषय की सुन्दर विवेचना की गई है। लेखक महाशय को चाहिए कि उन्हें एक बार पढ़ें और तब अपना लेख सुधार कर प्रकाशित करायें। ऐसा था द्विवेदी जी का विस्तृत अध्ययन, जिसका कायल सबको होना पड़ता था।

ऊपर जिन विषयों की सूची दी गई है उनमें अधिकांश बड़े शुष्क और गम्भीर हैं; फिर नये विषयों की ओर साधारण जनता का ध्यान आकर्षित करना आसान भी नहीं होता। द्विवेदी जी को इन सभी बातों का ध्यान रखना पड़ता था। अतः विषय को रोचक और शैली को सरल और स्पष्ट बनाने का वे सदा ही प्रयत्न किया करते थे। फलतः ‘सरस्वती’ में प्रकाशित लेखों में गम्भीरता के साथ साथ प्रचुर मात्रा में रोचकता, सरलता और माधुर्य भी मिलता था; ज्योतिष, वेदाङ्ग आदि रूखे-सूखे विषयों पर भी बड़े मनोमोहक और रोचक लेख उन्होंने लिखवाये। इससे ‘सरस्वती’ का जनता में बड़ा आदर होने लगा।

सामयिक विषयों का चयन और सङ्कलन करते समय वे एक आदर्शवादी सुधारक बन जाते थे। भारतवासी अपनी प्राचीन संस्कृति, भाषा, साहित्य आदि की रक्षा करें, यही उनका उद्देश्य और आदर्श था। अतः वे अपने पाठकों को संसार में आज कैसी उन्नति हो रही है, कौन-कौन देश उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहे हैं, भारत की वास्तविक स्थिति और दशा क्या है, आदि बातों से पूर्ण परिचित रखना अपना कर्तव्य समझते थे। इसके लिए उन्हें बड़ा परिश्रम करना पड़ता था; प्रायः अँगरेज़ी, मराठी, बँगला, गुजराती आदि भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं की उल्लेखनीय टिप्पणियों का अनुवाद वे ‘सरस्वती’

आरम्भ में ही हिन्दी-भाषा-भाषियों का हृदय-हार बन गई तो उसमें आश्चर्य ही क्या है ? वास्तव में जनता उस समय ज्ञानार्जन करना चाहती थी। परिस्थिति एक ही विषय के विशेषज्ञ को महत्त्व न देकर ऐसे व्यक्ति को चाहती थी जिसका ज्ञान विस्तृत हो। द्विवेदी जी इस बात को भली भाँति समझ गये थे। ऊपर दिया हुआ उनका नोट इस बात का प्रमाण है। ‘सरस्वती’ की रीति-नीति स्थिर करते समय उन्होंने यही आदर्श सामने रक्खा। प्राचीन काल के सभी विषयों में पारंगत एक गुरु की तरह वे अपने पाठकों की ज्ञान-वृद्धि के साथ उनमें ज्ञानार्जन-वृत्ति भी उत्पन्न करना चाहते थे। कालांतर में उनकी यह आकांक्षा पूर्ण हुई। ‘सरस्वती’ ने थोड़े ही समय में इतने स्नातक उत्पन्न कर दिये जितने शायद एक विश्वविद्यालय न पैदा कर सकता। ये स्नातक पदवीधारी न होने पर भी शायद ज्ञान में डिग्रीवालों से कम न थे। ‘सरस्वती’ के इस स्नातक-निर्माण-कार्य की आलोचना करते हुए द्विवेदी-अभिनंदन ग्रंथ में लिखा गया है—

“यदि हम इस कसौटी पर ‘सरस्वती’ की परीक्षा करें कि उसके द्वारा अँगरेज़ी अथवा दूसरी प्रांतीय भाषायें न जाननेवाले व्यक्ति कहाँ तक अपने-अपने देशवासी भिन्न-भाषा-भाषियों की शिक्षा-दीक्षा की समता कर सकते थे और कहाँ तक संसार की गति से परिचित न हो सकते थे—यदि हम यह पता लगा लें कि जो पाठक ‘सरस्वती’ की ही सहायता से अपनी विद्या-बुद्धि और मतिगति-निर्माण करते थे वे देश की पठित जनता के बीच किस रूप में दिखाई देते थे—तो हम उस पत्रिका का बहुत कुछ यथार्थ मूल्य समझ लें। हम बहुत प्रसन्नता के साथ देखते हैं कि ‘सरस्वती’ की सामग्री इस विचार से यथेष्ट मात्रा में उन्नत थी और उसके पाठकों को (संभवतः कविता को छोड़ कर) किसी विषय में संकुचित

आरम्भ में ही हिन्दी-भाषा-भाषियों का हृदय-हार बन गई तो उसमें आश्चर्य ही क्या है ? वास्तव में जनता उस समय ज्ञानार्जन करना चाहती थी। परिस्थिति एक ही विषय के विशेषज्ञ को महत्त्व न देकर ऐसे व्यक्ति को चाहती थी जिसका ज्ञान विस्तृत हो। द्विवेदी जी इस बात को भली भाँति समझ गये थे। ऊपर दिया हुआ उनका नोट इस बात का प्रमाण है। ‘सरस्वती’ की रीति-नीति स्थिर करते समय उन्होंने यही आदर्श सामने रक्खा। प्राचीन काल के सभी विषयों में पारंगत एक गुरु की तरह वे अपने पाठकों की ज्ञान-वृद्धि के साथ उनमें ज्ञानार्जन-वृत्ति भी उत्पन्न करना चाहते थे। कालांतर में उनकी यह आकांक्षा पूर्ण हुई। ‘सरस्वती’ ने थोड़े ही समय में इतने स्नातक उत्पन्न कर दिये जितने शायद एक विश्वविद्यालय न पैदा कर सकता। ये स्नातक पदवीधारी न होने पर भी शायद ज्ञान में डिग्रीवालों से कम न थे। ‘सरस्वती’ के इस स्नातक-निर्माण-कार्य की आलोचना करते हुए द्विवेदी-अभिनंदन ग्रंथ में लिखा गया है—

“यदि हम इस कसौटी पर ‘सरस्वती’ की परीक्षा करें कि उसके द्वारा अँगरेज़ी अथवा दूसरी प्रांतीय भाषायें न जाननेवाले व्यक्ति कहाँ तक अपने-अपने देशवासी भिन्न-भाषा-भाषियों की शिक्षा-दीक्षा की समता कर सकते थे और कहाँ तक संसार की गति से परिचित न हो सकते थे—यदि हम यह पता लगा लें कि जो पाठक ‘सरस्वती’ की ही सहायता से अपनी विद्या-बुद्धि और मतिगति-निर्माण करते थे वे देश की पठित जनता के बीच किस रूप में दिखाई देते थे—तो हम उस पत्रिका का बहुत कुछ यथार्थ मूल्य समझ लें। हम बहुत प्रसन्नता के साथ देखते हैं कि ‘सरस्वती’ की सामग्री इस विचार से यथेष्ट मात्रा में उन्नत थी और उसके पाठकों को (संभवतः कविता को छोड़ कर) किसी विषय में संकुचित

लेखक-निर्माण

हम पीछे लिख आये हैं कि बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में हिन्दी-संसार में बड़ी धाँधली मची हुई थी। पत्र-पत्रिकाएँ निकलती थीं और उनमें मनमाने लेख भरे जाते थे। ये लेख कभी तो मित्रों के होते थे और कभी सम्पादक महोदय के ही। पत्र-संचालकों या सम्पादकों को जनता की रुचि की कुछ भी चिन्ता न थी; वे केवल अँगरेजी और बँगला की नक़ल करके अपनी सम्पादक बनने की हवस पूरी करना चाहते थे।

‘सरस्वती’ का सम्पादन हाथ में आते ही द्विवेदी जी ने अनुभव किया कि बिना योग्य लेखक और पाठक उत्पन्न किये हिन्दी की दशा में सुधार होना असम्भव है। उन दिनों हिन्दी में लेखक थे भी इने-गिने। जो थे भी वे लकीर के फुक्कीरों की तरह पुराने विषयों को ही कविता करने और गद्य लिखने के लिए अंपनाते थे। भाषाशैली और व्याकरण पर तो कोई ध्यान ही न देता था। द्विवेदी जी ने इस अनियमितता को रोकने का भारी प्रयत्न किया और इस प्रकार के दोष-पूर्ण लेखों का प्रकाशन एकदम बन्द कर दिया। लोग लेख भेजते थे। द्विवेदी जी उनके दोष दिखा कर लौटती डाक से ही वापस कर देते थे। इससे दक्खिनानूसी लेखकों में बड़ा असंतोष फैल गया। द्विवेदी जी ने इसकी कुछ चिन्ता न की। जब तक अच्छे लेख न मिले, उन्होंने स्वयं इतना परिश्रम किया कि ‘सरस्वती’ का पूरा मेटर प्रायः खुद ही तैयार करने लगे। वे विभिन्न विषयों का अध्ययन करके लिखते थे और कल्पित नाम से छपा देते थे। द्विवेदी जी की चौमुखी प्रतिभा इन दिनों देखने योग्य थी। वे कभी

लेखक-निर्माण

हम पीछे लिख आये हैं कि बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में हिन्दी-संसार में बड़ी धाँधली मची हुई थी। पत्र-पत्रिकाएँ निकलती थीं और उनमें मनमाने लेख भरे जाते थे। ये लेख कभी तो मित्रों के होते थे और कभी सम्पादक महोदय के ही। पत्र-संचालकों या सम्पादकों को जनता की रुचि की कुछ भी चिन्ता न थी; वे केवल अँगरेजी और बँगला की नक़ल करके अपनी 'सम्पादक बनने की हवस पूरी करना चाहते थे।

'सरस्वती' का सम्पादन हाथ में आते ही द्विवेदी जी ने अनुभव किया कि बिना योग्य लेखक और पाठक उत्पन्न किये हिन्दी की दशा में सुधार होना असम्भव है। उन दिनों हिन्दी में लेखक थे भी इने-गिने। जो थे भी वे लकीर के फ़कीरों की तरह पुराने विषयों को ही कविता करने और गद्य लिखने के लिए अपनाते थे। भाषाशैली और व्याकरण पर तो कोई ध्यान ही न देता था। द्विवेदी जी ने इस अनियमितता को रोकने का भारी प्रयत्न किया और इस प्रकार के दोष-पूर्ण लेखों का प्रकाशन एकदम बन्द कर दिया। लोग लेख भेजते थे। द्विवेदी जी उनके दोष दिखा कर लौटती डाक से ही वापस कर देते थे। इससे दक्कियानूसी लेखकों में बड़ा असंतोष फैल गया। द्विवेदी जी ने इसकी कुछ चिन्ता न की। जब तक अच्छे लेख न मिले, उन्होंने स्वयं इतना परिश्रम किया कि 'सरस्वती' का पूरा मेटर प्रायः खुद ही तैयार करने लगे। वे विभिन्न विषयों का अध्ययन करके लिखते थे और कल्पित नाम से छपा देते थे। द्विवेदी जी की चौमुखी प्रतिभा इन दिनों देखने योग्य थी। वे कभी

और यदि लिखते भी थे तो अँगरेजी आदि अन्य भाषाओं में; हिन्दी में लिखने में 'शायद' वे अपना अपमान तक समझते थे। द्विवेदी जी सामयिक पत्रों में ऐसे लेखकों के लेख पढ़ा करते थे और प्रयत्न करते थे कि ये लोग हिन्दी में भी लिखें। यह प्रयत्न कभी-कभी व्यतिरेक-युक्ति-साधन के रूप में भी देखा जाता था। एक ऐसे ही लेखक के विषय में वे लिखते हैं—

“हिन्दुस्तान रिव्यू का जुलाई १९१४ का अंक इस समय हमारे सामने है। उसमें प्लेटो और शंकराचार्य के तत्त्व-ज्ञान पर एक लम्बा लेख है। उसके लेखक हैं कोई डाक्टर प्रभुदत्त शास्त्री, आई० ई० एस०। ये शायद वही डाक्टर साहब हैं जो किसी समय पंजाब में थे और सरकारी वज़ीफ़ा पाकर अपना दार्शनिक और संस्कृत-ज्ञान पक्का करने के लिए योरोप गये थे। यदि यह सच है तो क्या आप पर उन लोगों का कुछ भी हक़ नहीं, जिनसे वसूल हुआ रुपया वज़ीफ़े के रूप में पाकर आपने अपनी विद्वत्ता की सीमा बढ़ाई है? क्या केवल अँगरेज़ीदाँ हज़रत ही इस देश में बसते हैं? क्या ये स्कूल, काज़ेज और वज़ीफ़े उन्हीं के घर के रुपये से चञ्चते और मिलते हैं? आप लोगों को अपने घर की भी ख़बर रखनी चाहिए। जिसके घर में चूहे टंड पेड़ते हों वह यदि जगतसेठ के गोदाम में गेहूँ की गाड़ियाँ उलटाने जाय तो कितने आश्चर्य की बात है! हमारी यह शिकायत डाक्टर प्रभुदत्त शास्त्री से ही नहीं, उत्तरी भारत के अन्यान्य डाक्टरों और अँगरेज़ीदाँ शास्त्रियों से भी है। आप लोग अपनी भाषा में भी उपयोगी लेख लिखने की दया करें। लिखना नहीं आता तो सीखिए, अपना कर्तव्य पालन कीजिए।”

इन चेतावनियों से बहुत से लोग तो रास्ते पर आगये और हिन्दी में लिखने लगे, पर कुछ लोग ऐसे भी थे जो जान जान फा० ३

और यदि लिखते भी थे तो अँगरेजी आदि अन्य भाषाओं में; हिन्दी में लिखने में 'शायद' वे अपना अपमान तक समझते थे। द्विवेदी जी सामयिक पत्रों में ऐसे लेखकों के लेख पढ़ा करते थे और प्रयत्न करते थे कि ये लोग हिन्दी में भी लिखें। यह प्रयत्न कभी-कभी व्यतिरेक-युक्ति-साधन के रूप में भी देखा जाता था। एक ऐसे ही लेखक के विषय में वे लिखते हैं—

“हिन्दुस्तान रिव्यू का जुलाई १९१४ का अंक इस समय हमारे सामने है। उसमें प्लेटो और शंकराचार्य के तत्त्व-ज्ञान पर एक लम्बा लेख है। उसके लेखक हैं कोई डाक्टर प्रभुदत्त शास्त्री, आई० ई० एस०। ये शायद वही डाक्टर साहब हैं जो किसी समय पंजाब में थे और सरकारी वजीफ़ा पाकर अपना दार्शनिक और संस्कृत-ज्ञान पक्का करने के लिए योरप गये थे। यदि यह सच है तो क्या आप पर उन लोगों का कुछ भी हक नहीं, जिनसे वसूल हुआ रुपया वजीफ़े के रूप में पाकर आपने अपनी विद्वत्ता की सीमा बढ़ाई है? क्या केवल अँगरेज़ीदाँ हज़रत ही इस देश में बसते हैं? क्या ये स्कूल, काबेज और वजीफ़े उन्हीं के घर के रुपये से चढ़ते और मिलते हैं? आप लोगों को अपने घर की भी ख़बर रखनी चाहिए। जिसके घर में चूहे ढंड पेड़ते हों वह यदि जगतसेठ के गोदाम में गेहूँ की गाढ़ियाँ उड़टाने जाय तो कितने आश्चर्य की बात है! हमारी यह शिकायत डाक्टर प्रभुदत्त शास्त्री से ही नहीं, उत्तरी भारत के अन्यान्य डाक्टरों और अँगरेज़ीदाँ शास्त्रियों से भी है। आप लोग अपनी भाषा में भी उपयोगी लेख लिखने की दया करें। लिखना नहीं आता तो सीखिए, अपना कर्तव्य पालन कीजिए।”

इन चेतावनियों से बहुत से लोग तो रास्ते पर आगये और हिन्दी में लिखने लगे, पर कुछ लोग ऐसे भी थे जो बात बात

साहित्य-सेवा से अपना हाथ खींच लिया था । अब उनको एक ऐसा व्यक्ति ललकार रहा था जिसने अपना तन, मन और धन मातृभाषा की उन्नति के लिए अर्पण कर दिया था । अतः मातृभाषा के प्रति उन्होंने अपना कर्तव्य निर्धारित कर लिया । द्विवेदी जी तो चाहते ही थे कि हिन्दी-भाषा-भाषी दूसरी भाषाओं में पीछे लिखें, पहले अपनी मातृभाषा की यथोचित उन्नति कर लें । अतः उन्होंने इन लोगों का सहर्ष स्वागत किया । परिणाम-स्वरूप डाक्टर महेन्दुलाल गर्ग, श्री शिवचन्द भारतीय, पंडित गौरीदत्त वाजपेयी, राय देवीप्रसाद पूर्ण, पंडित नाथूराम शर्मा, पंडित शुक्देव तिवारी, मुंशी देवीप्रसाद मुंसिफ, पंडित रामचरित उपाध्याय, कुँवर हनुमन्तसिंह, श्री गिरिजाकुमार घोष, पंडित सत्यनारायण कविरत्न, श्री मैथिलीशरण गुप्त, पंडित रामचन्द्र शुक्ल, पंडित वेङ्कटेशनारायण तिवारी, श्री वृजनन्दनसहाय, स्वामी सत्यदेव, पंडित गिरिधर शर्मा नवरत्न, प्रभृति लेखकों ने 'सरस्वती' में लिखना आरम्भ कर दिया । इनमें कुछ लेखक तो उनके समकालीन थे परन्तु अन्तिम ५-७ लेखक नवयुवक ही थे जिनमें वे उपाधियों या डिग्रियों की ओर ध्यान न देकर प्रतिभा के कण ढूँढ़ा करते थे । सत्य ही वे प्रतिभा के उपासक थे; समर्थक थे । वे गुण-प्राही थे और ऐसे पारखी जौहरी थे कि हीरे का उचित मूल्य देते थे, चाहे वह किसी निर्धन व्यक्ति के हाथ में ही क्यों न हो । परन्तु कृत्रिम की उन्हें परख थी और उसकी ओर से वे घृणा से दृष्टि फेर लिया करते थे ।

लेखकों-में से कई ऐसे भी थे जो विदेशी भाषाओं के परिष्ठत थे । इनका ज्ञान स्वभावतः बहुत विस्तृत था । इनमें से कई विद्वान् अंगरेजी के पत्रों में लेख लिखा करते थे । इन लेखों का विदेशों में भी बड़ा मान होता था । द्विवेदी जी ने सोचा कि यदि ऐसे विद्वान् हिन्दी पर कृपा

साहित्य-सेवा से अपना हाथ खींच लिया था । अब उनको एक ऐसा व्यक्ति ललकार रहा था जिसने अपना तन, मन और धन मातृभाषा की उन्नति के लिए अर्पण कर दिया था । अतः मातृभाषा के प्रति उन्होंने अपना कर्तव्य निर्धारित कर लिया । द्विवेदी जी तो चाहते ही थे कि हिन्दी-भाषा-भाषी दूसरी भाषाओं में पीछे लिखें, पहले अपनी मातृभाषा की यथोचित उन्नति कर लें । अतः उन्होंने इन लोगों का सहर्ष स्वागत किया । परिणाम-स्वरूप डाक्टर महेन्दुलाल गर्ग, श्री शिवचन्द्र भारतीय, पंडित गौरीदत्त वाजपेयी, राय देवीप्रसाद पूर्ण, पंडित नाथूराम शर्मा, पंडित शुक्देव तिवारी, मुंशी देवीप्रसाद मुंसिफ, पंडित रामचरित उपाध्याय, कुँवर हनुमन्तसिंह, श्री गिरिजाकुमार घोष, पंडित सत्यनारायण कविरत्न, श्री मैथिलीशरण गुप्त, पंडित रामचन्द्र शुक्ल, पंडित वेङ्कटेशनारायण तिवारी, श्री वृजनन्दनसहाय, स्वामी सत्यदेव, पंडित गिरिधर शर्मा नवरत्न, प्रभृति लेखकों ने 'सरस्वती' में लिखना आरम्भ कर दिया । इनमें कुछ लेखक तो उनके समकालीन थे परन्तु अन्तिम ५-७ लेखक नवयुवक ही थे जिनमें वे उपाधियों या डिगिरियों की ओर ध्यान न देकर प्रतिभा के कण ढूँढ़ा करते थे । सत्य ही वे प्रतिभा के उपासक थे; समर्थक थे । वे गुणग्राही थे और ऐसे पारखी जौहरी थे कि हीरे का उचित मूल्य देते थे, चाहे वह किसी निर्धन व्यक्ति के हाथ में ही क्यों न हो । परन्तु कृत्रिम की उन्हें परख थी और उसकी ओर से वे घृणा से दृष्टि फेर लिया करते थे ।

लेखकों-में से कई ऐसे भी थे जो विदेशी भाषाओं के परिणत थे । इनका ज्ञान स्वभावतः बहुत विस्तृत था । इनमें से कई विद्वान् अँगरेजी के पत्रों में लेख लिखा करते थे । इन लेखों का विदेशों में भी बड़ा मान होता था । द्विवेदी जी ने सोचा कि यदि ऐसे विद्वान् हिन्दी पर कृपा

करते थे। इनके बाद अँगरेजी के सुप्रसिद्ध लेखक और पत्रकार श्री सन्त निहालसिंह का नाम आता है। सन्त जी ने अमेरिका, चीन और जापान आदि देशों का भ्रमण कर ज्ञानोपार्जन किया था और इनके लेख 'माडर्नरिव्यू' में प्रकाशित होते थे। द्विवेदी जी ने वे लेख पढ़े और बहुत पसन्द किये; फिर सन् १९११ की फरवरी मास की 'सरस्वती' में उन्होंने सन्त जी का संक्षिप्त परिचय प्रकाशित किया और अन्त में उनकी प्रशंसा करते हुए लिखा—

“सेन्ट जी से एक उलहना है। अँगरेजी न जाननेवाले अपने देशवासियों को अपनी बहुज्ञता से लाभ पहुँचाने का भी कभी उन्होंने खयाल किया है या नहीं! सबसे अधिक तो इसी की ज़रूरत है। वह क्या आपके अँगरेजी लेखों से हो सकता है? जिस योरप और अमेरिका से उन्होंने इतना ज्ञानार्जन किया है वे सब अपनी ही अपनी मातृभाषाओं में लिखते हैं। फिर क्यों न आप भी कभी-कभी अपनी देश-भाषा में कुछ लिखने की कृपा किया करें? अपनी माँ की बोली की—अपनी देश की भाषा की सेवा करना भी तो मनुष्य का कर्तव्य है!”

इस उलहने की दाद देकर सेन्ट जी ने कई लेख 'सरस्वती' में लिखे। इसी प्रकार रायसाहब छोटेलाल जी (बार्हस्पत्य) इंजीनियर के ज्योतिष-वेदाङ्ग पर बड़े महत्त्व के गवेषणापूर्ण लेख 'हिन्दुस्तान-रिव्यू' नामक अँगरेजी पत्र में प्रकाशित हुए थे। इन लेखों की विद्वानों ने बड़ी प्रशंसा की थी। द्विवेदी जी ने भी इन्हें बहुत पसन्द किया। उन्होंने लेखक की प्रशंसा में संस्कृत में स्वयं एक पद बनाया। उसमें बार्हस्पत्य जी को आशीर्वाद भी दिया। वस, उसी दिन से द्विवेदी जी ने मानो उन्हें 'सरस्वती' के लिए मोल ले लिया। बार्हस्पत्य जी ने

करते थे। इनके बाद अँगरेजी के सुप्रसिद्ध लेखक और पत्रकार श्री सन्त निहालसिंह का नाम आता है। सन्त जी ने अमेरिका, चीन और जापान आदि देशों का भ्रमण कर ज्ञानोपार्जन किया था और इनके लेख 'माडर्नरिव्यू' में प्रकाशित होते थे। द्विवेदी जी ने वे लेख पढ़े और बहुत पसन्द किये; फिर सन् १९११ की फरवरी मास की 'सरस्वती' में उन्होंने सन्त जी का संक्षिप्त परिचय प्रकाशित किया और अन्त में उनकी प्रशंसा करते हुए लिखा—

“सन्त जी से एक उलहना है। अँगरेजी न जाननेवाले अपने देशवासियों को अपनी बहुज्ञता से लाभ पहुँचाने का भी कभी उन्होंने खयाल किया है या नहीं! सबसे अधिक तो इसी की ज़रूरत है। वह क्या आपके अँगरेजी लेखों से हो सकता है? जिस योरप और अमेरिका से उन्होंने इतना ज्ञानार्जन किया है वे सब अपनी ही अपनी मातृभाषाओं में लिखते हैं। फिर क्यों न आप भी कभी-कभी अपनी देश-भाषा में कुछ लिखने की कृपा किया करें? अपनी माँ की बोली की—अपनी देश की भाषा की सेवा करना भी तो मनुष्य का कर्तव्य है!”

इस उलहने की दाद देकर सेन्ट जी ने कई लेख 'सरस्वती' में लिखे। इसी प्रकार रायसाहब छोटेलाल जी (बार्हस्पत्य) इंजीनियर के ज्योतिष-वेदाङ्ग पर बड़े महत्त्व के गवेषणापूर्ण लेख 'हिन्दुस्तान-रिव्यू' नामक अँगरेजी पत्र में प्रकाशित हुए थे। इन लेखों की विद्वानों ने बड़ी प्रशंसा की थी। द्विवेदी जी ने भी इन्हें बहुत पसन्द किया। उन्होंने लेखक की प्रशंसा में संस्कृत में स्वयं एक पद बनाया। उसमें बार्हस्पत्य जी को आशीर्वाद भी दिया। वस, उसी दिन से द्विवेदी जी ने मानो उन्हें 'सरस्वती' के लिए मोल ले लिया। बार्हस्पत्य जी ने

परन्तु इन महाशय को द्विवेदी जी ने केवला उत्साहित कर-
के नहीं छोड़-दिया । आगे चल कर उनसे प्रार्थना करते हुये
लिखा—

“हमारे देशबंधु अंगरेजी ऐसी छिछ आषा को लिख कर-उनके
साहित्य-सागर को तो गँदला करते ही हैं, पर अपनी मातृभाषा
लिखने की भी चेष्टा नहीं करते । यह दुर्भाग्य की बात है । क्या हो
अच्छा हो यदि आप ‘मातृभाषा-विषयक मनुष्य का कर्त्तव्य’ या इसी
तरह के किसी विषय पर लेख लिख कर इन लोगों को लज्जित करें ।

विनयावनत

महावीरप्रसाद द्विवेदी”

द्विवेदी जी अपने लेखकों से भली भाँति परिचित रहते
थे । कौन मनुष्य किस विषय का अच्छा लेखक बन सकता
है, इसकी उन्हें अनोखी परख थी । नये कवियों की
कविता लौटाते समय वे उनके दोष स्पष्टतया लिख देते थे,
जिससे उन्हें भविष्य में अपनी उन्नति करने का सहारा मिल
जाता था । यही नहीं, वे कवियों को सामयिक रुचि के विषय
भी बतलाते थे और उन पर कवितायें लिखने के लिए उन्हें
उत्साहित करते थे । पंडित केशवप्रसाद मिश्र अपने विषय में
एक ऐसे ही प्रसंग का उल्लेख इस प्रकार करते हैं—

‘यों ही दस वर्ष बीत गये । सन् १९१३ के दिसम्बर में आखिर
हिम्मत कर ही तो डाली । ‘सुदामा’ पर एक लम्बी तुकबंदी
लिखकर उत्साह से द्विवेदी जी के पास भेज दी और मान लिया कि
अब पंच बराबर होने में बस बस सिर्फ एक ही महीने की देर है ।

‘सरस्वती’ में मेरी ‘कविता’ निकली कि मैं लेखकों में गिना गया ।

परन्तु इन महाशय को द्विवेदी जी ने केवल उत्साहित कर-
के नहीं छोड़-दिया । आगे चल कर उनसे प्रार्थना करते हुए
लिखा—

“हमारे देशबंधु अंगरेजी ऐसी छिष्ट भाषा को लिख कर-उसके
साहित्य-सागर को तो गँदला करते ही हैं, पर अपनी मातृभाषा
लिखने की भी चेष्टा नहीं करते । यह दुर्भाग्य की बात है । क्या हो
अच्छा हो यदि आप ‘मातृभाषा-विषयक मनुष्य का कर्तव्य’ या इसी
तरह के किसी विषय पर लेख लिख कर इन लोगों को लज्जित करें ।

विनयावनत

महावीरप्रसाद द्विवेदी”

द्विवेदी जी अपने लेखकों से भली भाँति परिचित रहते
थे । कौन मनुष्य किस विषय का अच्छा लेखक बन सकता
है, इसकी उन्हें अनोखी परख थी । नये कवियों की
कविता लौटाते समय वे उनके दोष स्पष्टतया लिख देते थे,
जिससे उन्हें भविष्य में अपनी उन्नति करने का सहारा मिल
जाता था । यही नहीं, वे कवियों को सामयिक रुचि के विषय
भी बतलाते थे और उन पर कवितायें लिखने के लिए उन्हें
उत्साहित करते थे । पंडित केशवप्रसाद मिश्र अपने विषय में
एक ऐसे ही प्रसंग का उल्लेख इस प्रकार करते हैं—

‘यों ही दस वर्ष बीत गये । सन् १९१३ के दिसम्बर में आखिर
हिम्मत कर ही तो डाली । ‘सुदामा’ पर एक लम्बी तुकबंदी
लिखकर उसाह से द्विवेदी जी के पास भेज दी और मान लिया कि
अब पंच बराबर होने में बस बस सिर्फ एक ही महीने की देर है ।

‘सरस्वती’ में मेरी ‘कविता’ निकली कि मैं लेखकों में गिना गया ।

“मैं एक बार उनके दर्शन को जुड़ी पहुँचा। कुछ बातचीत हो चुकने के बाद द्विवेदी जी ने प्रश्न किया।

“क्या पढ़ते हैं?”

इस बार साहस करके कह दिया—“अधिकतर तो उपन्यास और गल्प ही पढ़ी हैं।”

“अच्छा! कौन-कौन उपन्यास पढ़े हैं?”

मैंने अँगरेज़ी, हिंदी, बँगला तथा उर्दू के कुछ प्रसिद्ध उपन्यासों के नाम बताये।

“उपन्यास तो खूब पढ़े हैं।”

“हाँ। और लिखने की रुचि भी कुछ इसी ओर है।”

“बढ़ी अच्छी बात है। छोटी-छोटी कहानियाँ और गल्प तो पढ़ी ही होंगी—वैसे ही लिखा कीजिए।”

“देखिए, प्रयत्न करूँगा।”

“द्विवेदी जी सिर झुकाकर मस्तक पर हाथ फेरने लगे। कुछ क्षणों के पश्चात् बगल से पानों की डिबिया उठाकर उसमें से दो पान निकाले और मुझे दिये। इसके पश्चात् बोले—“मैं एक मिनट में आता हूँ।” यह कहकर उठे और कमरे के अन्दर चले गये। लौटकर एक पुस्तक हाथ में लिये हुए आये। चारपाई पर बैठकर बोले—“बँगला तो आप जानते ही हैं—रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गल्पें पढ़ी होंगी—उन्हीं की गल्पों का यह संग्रह है। इसमें से कोई एक गल्प जिसे आप सबसे अच्छी समझें, हिन्दी में अनुवाद करके मुझे दें—मैं उसे छापूँगा। लेकिन इतना ध्यान रखिएगा कि न तो पुस्तक में कहीं क्रलस या पेंसिल का निशान लगाइएगा, न स्याही के धब्बे पड़ने दीजिएगा, न पृष्ठ मोड़िएगा।”

“मैं एक बार उनके दर्शन को जुड़ी पहुँचा। कुछ बातचीत हो चुकने के बाद द्विवेदी जी ने प्रश्न किया।

“क्या पढ़ते हैं ?”

इस बार साहस करके कह दिया—“अधिकतर तो उपन्यास और गल्प ही पढ़ी हैं।”

“अच्छा ! कौन-कौन उपन्यास पढ़े हैं ?”

मैंने अँगरेज़ी, हिंदी, बँगला तथा उर्दू के कुछ प्रसिद्ध उपन्यासों के नाम बताये।

“उपन्यास तो खूब पढ़े हैं।”

“हाँ। और लिखने की रुचि भी कुछ इसी ओर है।”

“बड़ी अच्छी बात है। छोटी-छोटी कहानियाँ और गल्प तो पढ़ी ही होंगी—वैसे ही लिखा कीजिए।”

“देखिए, प्रयत्न करूँगा।”

“द्विवेदी जी सिर झुकाकर मस्तक पर हाथ फेरने लगे। कुछ क्षणों के पश्चात् बगल से पानों की डिबिया उठाकर उसमें से दो पान निकाले और मुझे दिये। इसके पश्चात् बोले—“मैं एक मिनिट में आता हूँ।” यह कहकर उठे और कमरे के अन्दर चले गये। ज़ौटकर एक पुस्तक हाथ में लिये हुए आये। चारपाई पर बैठकर बोले—“बँगला तो आप जानते ही हैं—रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गल्पें पढ़ी होंगी—उन्हीं की गल्पों का यह संग्रह है। इसमें से कोई एक गल्प जिसे आप सबसे अच्छी समझें, हिन्दी में अनुवाद करके मुझे दें—मैं उसे छापूँगा। लेकिन इतना ध्यान रखिएगा कि न तो पुस्तक में कहीं क्रलम या पेंसिल का निशान लगाइएगा, न स्याही के धब्बे पड़ने दीजिएगा, न पृष्ठ मोड़िएगा।”

मैं 'सरस्वती' में एक अच्छा लेख दे सकता हूँ। इसके लिए उन्होंने आज्ञा दी। मैंने इस संबंध में शीघ्र पुस्तकें पढ़कर के लेख तैयार किया। अनुभव कम था और मसाला अधिक, अतः लेख श्रे २० पृष्ठ का तैयार हुआ। मैंने वह उनके पास भेज दिया। लौटती आक से उन्होंने पत्र लिखा कि 'सरस्वती' के लिए लेख लिखना है या पोथा? और, इसे छापूँगा।

"समय पर 'सरस्वती' आई और मैंने आश्चर्य और उत्तुक्ता-पूर्वक देखा कि नाना फदनवीस का मेरा वह २० पृष्ठ में लिखा लेख छपा हुआ है। लेख का सार तथा सिलसिला इतना उत्तम बंधा हुआ कि कहीं विश्रंखलता मालूम ही नहीं दो। इतना ही नहीं, बल्कि लेख मेरे नाम से छपा हुआ है और दो रुपये पेज के हिसाब से १६) का मनीआर्डर भी पुरस्कार में मेरे पास एक हफ्ते के अन्दर ही—आप ही आप—आ गया! मैं तो भौचक्का रह गया कि यह कैसा महान् पत्रकार है कि जो अपने छोटे-छोटे कृपापात्र लेखकों के प्रति इतना सजग रहता है!"

वे यह भी चाहते थे कि उनके लेखक उन्हीं की भाँति सदैव लिखा करें। हर महीने वे उन्हें पत्र भेज रिमाइन्ड कर दिया करते थे। परिणत रूपनारायण जी पांडेय (माधुरी-सम्पादक) ने मुझसे कई बार यह बात कही है कि प्रतिमास द्विवेदी जी कविता भेजने के लिए उन्हें तीन-चार पत्र डाला करते थे। इसी प्रकार जो महाशय बहुत दिन तक 'सरस्वती' में कुछ न लिखते, उनसे वे जवाब भी तलब किया करते थे। वेचारा समय न मिलने का बहाना करता। परन्तु द्विवेदी जी इससे न सन्तुष्ट होते और उत्तर देते—“जी नहीं, यह सब बहाना है। तुम दृढ़ निश्चयी नहीं, समय मिलना न मिलना अपने हाथ में है। चाहो तो समय निकाल सकते हो।” बहुत से नवयुवक लेखक और कवि उनके

मैं 'सरस्वती' में एक अच्छा लेख दे सकता हूँ। इसके लिए उन्होंने आज्ञा दी। मैंने इस संबंध में शीघ्र पुस्तकें पढ़ कर के लेख तैयार किया। अनुभव कम था और मसाला अधिक, अतः लेख श्रे १० पृष्ठ का तैयार हुआ। मैंने वह उनके पास भेज दिया। लौटती धक से उन्होंने पत्र लिखा कि 'सरस्वती' के लिए लेख लिखा है या पोथा? और, इसे छापूँगा।

“समय पर 'सरस्वती' आई और मैंने आश्चर्य और उत्सुकता-पूर्वक देखा कि नाना फव्वारीयों का मेरा वह १० पृष्ठ में लिखा लेख छपा हुआ है। लेख का सार तथा सिलसिला इतना उत्तम बंधा हुआ कि कहीं विशृंखलता मालूम ही नहीं दो। इतना ही नहीं, बल्कि लेख मेरे नाम से छपा हुआ है और दो रुपये पेज के हिसाब से १६) का मनीआर्डर भी पुरस्कार में मेरे पास एक हफ्ते के अन्दर ही—आप ही आप—आ गया! मैं तो भौचक्का रह गया कि यह कैसा महान् पत्रकार है कि जो अपने छोटे-छोटे कृपापात्र लेखकों के प्रति इतना सजग रहता है!”

वे यह भी चाहते थे कि उनके लेखक उन्हीं की भाँति सदैव लिखा करें। हर महीने वे उन्हें पत्र भेज रिमाइन्ड कर दिया करते थे। परिणत रूपनारायण जी पांडेय (माधुरी-सम्पादक) ने मुझसे कई बार यह बात कही है कि प्रतिमास द्विवेदी जी कविता भेजने के लिए उन्हें तीन-चार पत्र डाला करते थे। इसी प्रकार जो महाशय बहुत दिन तक 'सरस्वती' में कुछ न लिखते, उनसे वे जवाब भी तलब किया करते थे। वेचारा समय न मिलने का बहाना करता। परन्तु द्विवेदी जी इससे न सन्तुष्ट होते और उत्तर देते—“जी नहीं, यह सब बहाना है। तुम दृढ़ निश्चयी नहीं, समय मिलना न मिलना अपने हाथ में है। चाहो तो समय निकाल सकते हो।” बहुत से नवयुवक लेखक और कवि उनके

की त्रुटियाँ दिखाई गई थीं - विषय के अनुरूप शैली न होने की बुराई की और मेरा ध्यान दिलाया गया था। उन दिनों मेरे सामने आदर्श था स्वर्गीय पंडित गोविंदनारायण मिश्र का, जिनकी संजीव विद्वत्ता तथा प्राकृत और हिन्दी के साहित्यों का अध्ययन और सगन वस्तुतः श्रुपूर्व था। पर पंडित गोविंदनारायण जी का गद्य कादंबरी का अनुकरण था और मैं भी उनका पदानुसरण करने का यत्न किया करता था। द्विवेदी जी को यह शैली पसन्द नहीं थी और अपने एक कार्ड में आपने यह लिख भी दिया था। वर्षों बाद मुझे द्विवेदी जी के इस कथन की सत्यता का अनुभव हुआ। मैं भी भाषा सरल और वाक्य छोटे करने का यत्न करने लगा। आज के कुछ लेख आपको बहुत पसन्द आये थे और जब जो लेख अच्छा मालूम हुआ, तुरन्त कार्ड लिखकर अपना सन्तोष प्रकट किया। कार्यक्षेत्र से अवसर ग्रहण करने के बाद भी मेरे जैसे एक साधारण पत्रकार पर भी ऐसी दयादृष्टि रखनेवाला आचार्य हिंदी को पुनः कब प्राप्त होगा ?”

साथ ही उन्होंने ‘सरस्वती’ का स्टेण्डर्ड भी ऊँचा किया। आरम्भ में उनका उद्देश्य और आदर्श समझकर पण्डित रुद्रदत्त शर्मा ने टोका था—“हिन्दी में इतने उच्च कोटि के लेखक कहाँ मिलेंगे ? पत्रिका का चलना कठिन है।” परन्तु द्विवेदी जी इससे निरुत्साह न हुए, प्रत्युत प्रेरणा और प्रोत्साहन-द्वारा उन्होंने कितने ही लेखकों और कवियों का स्वयं ही निर्माण कर दिया। यही नहीं, अन्य भाषा-भाषियों को भी हिन्दी और हिन्दी-साहित्य का प्रेमी और आदरकर्ता बना दिया। आज उनके बनाये हुए कई लेखक और कवि देश में आदर्श और रत्न माने जाते हैं और अपनी विद्वत्तापूर्ण तथा कलामय कृतियों से हमारे साहित्य को गौरवान्वित कर चुके हैं।

की त्रुटियाँ दिखाई गई थीं— विषय के अनुरूप शैली न होने की बुराई की और मेरा ध्यान दिलाया गया था। उन दिनों मेरे सामने आदर्श था स्वर्गीय पंडित गोविंदनारायण मिश्र का, जिनकी संजीव विद्वत्ता तथा प्राकृत और हिन्दी के साहित्यों का अध्ययन और मगन वस्तुतः अपूर्व था। पर पंडित गोविंदनारायण जी का गद्य कादंबरी का अनुकरण था और मैं भी उनका पदानुसरण करने का यत्न किया करता था। द्विवेदी जी को यह शैली पसन्द नहीं थी और अपने एक कार्ड में आपने यह लिख भी दिया था। वर्षों बाद मुझे द्विवेदी जी के इस कथन की सत्यता का अनुभव हुआ। मैं भी भाषा सरल और वाक्य छोटे करने का यत्न करने लगा। आज के कुछ लेख आपके बहुत पसन्द आये थे और जब जो लेख अच्छा मालूम हुआ, तुरन्त कार्ड लिखकर अपना सन्तोष प्रकट किया। कार्यक्षेत्र से अवसर ग्रहण करने के बाद भी मेरे जैसे एक साधारण पत्रकार पर भी ऐसी दयादृष्टि रखनेवाला आचार्य हिंदी को पुनः कब प्राप्त होगा ?”

साथ ही उन्होंने ‘सरस्वती’ का स्टेण्डर्ड भी ऊँचा किया। आरम्भ में उनका उद्देश्य और आदर्श समझकर पण्डित रुद्रदत्त शर्मा ने टोका था—“हिन्दी में इतने उच्च कोटि के लेखक कहाँ मिलेंगे ? पत्रिका का चलना कठिन है।” परन्तु द्विवेदी जी इससे निरुत्साह न हुए, प्रत्युत प्रेरणा और प्रोत्साहन-द्वारा उन्होंने कितने ही लेखकों और कवियों का स्वयं ही निर्माण कर दिया। यही नहीं, अन्य भाषा-भाषियों को भी हिन्दी और हिन्दी-साहित्य का प्रेमी और आदरकर्ता बना दिया। आज उनके बनाये हुए कई लेखक और कवि देश में आदर्श और रत्न माने जाते हैं और अपनी विद्वत्तापूर्ण तथा कलामय कृतियों से हमारे साहित्य को गौरवान्वित कर चुके हैं।

आगे बढ़ गये कि उन्होंने द्विवेदी जी से नाराज होकर निजी पत्र-पत्रिकाओं को जन्म दिया। काशी से 'तरंगिणी' नाम की पत्रिका का जन्म ऐसे ही हुआ था। उसके संपादक द्विवेदी जी से नाराज हो गये थे। उनकी शिकायती कविता 'सरस्वती' में छपी है। पर द्विवेदी जी की दृढ़ता, संपादन-कला-संबंधी परिश्रम, आदि के कारण 'सरस्वती' का प्रचार दिन प्रति बढ़ता गया। उसकी सफलता देखकर अन्य पत्र-पत्रिकाओं को जन्म दिया गया।

भागलपुर से 'कमला' प्रकाशित हुई और प्रयाग से 'मर्यादा'। पहली तो शीघ्र ही बंद होगई, पर दूसरी पत्रिका कुछ दिनों तक अच्छी तरह प्रकाशित होती रही। उसको लेखक भी अच्छे मिले; 'सरस्वती' के ही कुछ लेखक उसमें प्रायः लिखा करते थे। उनके लेखों में गंभीरता, रोचकता और सधुरता का मिश्रण रहता था। इधर मेरठ से 'ललिता' नाम की पत्रिका प्रकाशित हुई। अन्य पत्रिकाओं ने तो 'सरस्वती' से स्पर्धा करने का असफल प्रयत्न ही किया, पर 'ललिता' इन सबसे आगे बढ़ गई—उसने अपने कवर पर ही 'सरस्वती' से टक्कर लेने की बात लिख डाली। इसी समय खंडवा से 'प्रभा' प्रकाशित हुई। यह पत्रिका भी अच्छी थी, पर पूरे साल भर भी न चल सकी। कुछ साल बाद वह फिर 'प्रताप'—कार्यालय, कानपुर से निकली; पर कुछ दिन बाद फिर बंद होगई। पत्रों में काशी से प्रकाशित होने वाला 'इन्दु' बहुत सजधज से निकलता था।

प्रायः इन सभी पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन थोड़े समय बाद ही बन्द कर दिया गया; शायद ही किसी का जीवन ५-६ वर्ष से अधिक का हुआ हो। इसके दो कारण थे—पहला धनभाव और दूसरा अध्यवसायी, परिश्रमी और कर्मवीर सम्पादक का न मिलना। यों पहला कारण प्रधान जान

आगे बढ़ गये कि उन्होंने द्विवेदी जी से नाराज होकर निजी पत्र-पत्रिकाओं को जन्म दिया। काशी से 'तरंगिणी' नाम की पत्रिका का जन्म ऐसे ही हुआ था। उसके संपादक द्विवेदी जी से नाराज हो गये थे। उनकी शिकायती कविता 'सरस्वती' में छपी है। पर द्विवेदी जी की दृढ़ता, संपादन-कला-संबंधी परिश्रम, आदि के कारण 'सरस्वती' का प्रचार दिन प्रति बढ़ता गया। उसकी सफलता देखकर अन्य पत्र-पत्रिकाओं को जन्म दिया गया।

भागलपुर से 'कमला' प्रकाशित हुई और प्रयाग से 'मर्यादा'। पहली तो शीघ्र ही बंद होगई, पर दूसरी पत्रिका कुछ दिनों तक अच्छी तरह प्रकाशित होती रही। उसको लेखक भी अच्छे मिले; 'सरस्वती' के ही कुछ लेखक उसमें प्रायः लिखा करते थे। उनके लेखों में गंभीरता, रोचकता और मधुरता का मिश्रण रहता था। इधर मेरठ से 'ललिता' नाम की पत्रिका प्रकाशित हुई। अन्य पत्रिकाओं ने तो 'सरस्वती' से स्पर्धा करने का असफल प्रयत्न ही किया, पर 'ललिता' इन सबसे आगे बढ़ गई—उसने अपने कवर पर ही 'सरस्वती' से टक्कर लेने की बात लिख डाली। इसी समय गँडवा से 'प्रभा' प्रकाशित हुई। यह पत्रिका भी अच्छी थी, पर पूरे साल भर भी न चल सकी। कुछ साल बाद वह फिर 'प्रताप'—कार्यालय, कानपुर से निकली; पर कुछ दिन बाद फिर बंद होगई। पत्रों में काशी से प्रकाशित होने वाला 'इन्दु' बहुत सजवज से निकलता था।

प्रायः इन सभी पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन थोड़े समय बाद ही बन्द कर दिया गया; शायद ही किसी का जीवन ५-६ वर्ष से अधिक का हुआ हो। इसके दो कारण थे—पहला धनभाव और दूसरा अध्यवसायी, परिश्रमी और कर्मवीर सम्पादक का न मिलना। यों पहला कारण प्रधान जान

और १९०५ की है, जब वे अपने लेख कल्पित नाम से छपाया करते थे। शायद इस काल में केवल परिचित गिरिजादत्त जी वाजपेयी के ही लेख उन्होंने प्रकाशित किये हैं—अन्य प्रायः सभी स्वयं लिखे हैं। १९०५ और १९०६ में उन्होंने पढ़ा बहुत है और नवीन विषयों से 'सरस्वती' के प्रत्येक अंक को सजाया है। इन दोनों वर्षों में लेखों की थोड़ी-बहुत सहायता उन्हें अवश्य मिलती रही। १९०७ और १९०८ में उन्हें फिर बहुत परिश्रम करना पड़ा। 'सद्धर्मप्रचारक', 'ललिता' आदि पत्रों से इस समय 'सरस्वती' की होड़ हो रही थी; समालोचना व भाषा-सम्बन्धी भगड़े रोज ही शुरू होते थे और उनका उत्तर देना आवश्यक था। परिणाम यह हुआ कि वे बीमार हो गये। १९१० में उन्हें पूरे वर्ष भर की छुट्टी भी लेनी पड़ी।

द्विवेदी जी के इन वर्षों में प्रकाशित सम्पादकीय तथा अन्य लेखों को पढ़कर हमें उनकी योग्यता और बुद्धिमत्ता का ज्ञान तो होता ही है, साथ ही 'सरस्वती' में प्रकाशित अन्य सज्जनों के लेखों में भी यत्र-तत्र उन्हीं के व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं। इसका कारण यह था कि प्रकाशनार्थ आये हुए सभी लेखों को वे बड़े गौर से आलोचान्त पढ़ा करते थे। भाषा, विराम-चिह्न, क्रम, अस्पष्टता तथा शैली विषयक दोषों को सुधारने में पहले वे दिन और रात एक कर देते थे और तब लेख को प्रकाशित करते थे। द्विवेदी जी 'सरस्वती' का सम्पादन जुही से करते थे। वे एक दिन भी इण्डियन प्रेस के आफिस में बैठकर काम करने नहीं गये। पर उनके समय में 'सरस्वती' की छपाई में बड़ी सावधानी रहती थी। द्विवेदी जी की सम्पादन-सम्बन्धी कुशलता की प्रशंसा करते हुए 'इण्डियन प्रेस' के वर्तमान स्वामी श्रीयुत हरिकेशव घोष लिखते हैं—

और १९०५ की है, जब वे अपने लेख कल्पित नाम से छपाया करते थे। शायद इस काल में केवल परिणित गिरिजादत्त जी चाजपेयी के ही लेख उन्होंने प्रकाशित किये हैं—अन्य प्रायः सभी स्वयं लिखे हैं। १९०५ और १९०६ में उन्होंने पढ़ा बहुत है और नवीन विषयों से 'सरस्वती' के प्रत्येक अङ्क को सजाया है। इन दोनों वर्षों में लेखों की थोड़ी-बहुत सहायता उन्हें अवश्य मिलती रही। १९०७ और १९०८ में उन्हें फिर बहुत परिश्रम करना पड़ा। 'सद्धर्मप्रचारक', 'ललिता' आदि पत्रों से इस समय 'सरस्वती' की होड़ हो रही थी; समालोचना व भाषा-सम्बन्धी भगड़े रोज ही शुरू होते थे और उनका उत्तर देना आवश्यक था। परिणाम यह हुआ कि वे बीमार हो गये। १९१० में उन्हें पूरे वर्ष भर की छुट्टी भी लेनी पड़ी।

द्विवेदी जी के इन वर्षों में प्रकाशित सम्पादकीय तथा अन्य लेखों को पढ़कर हमें उनकी योग्यता और बुद्धिमत्ता का ज्ञान तो होता ही है, साथ ही 'सरस्वती' में प्रकाशित अन्य सज्जनों के लेखों में भी यत्र-तत्र उन्हीं के व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं। इसका कारण यह था कि प्रकाशनार्थ आये हुए सभी लेखों को वे बड़े गौर से आलोचनान्त पढ़ा करते थे। भाषा, विराम-चिह्न, क्रम, अस्पष्टता तथा शैली विषयक दोषों को सुधारने में पहले वे दिन और रात एक कर देते थे और तब लेख को प्रकाशित करते थे। द्विवेदी जी 'सरस्वती' का सम्पादन जुही से करते थे। वे एक दिन भी इण्डियन प्रेस के आफिस में बैठकर काम करने नहीं गये। पर उनके समय में 'सरस्वती' की छपाई में बड़ी सावधानी रहती थी। द्विवेदी जी की सम्पादन-सम्बन्धी कुशलता की प्रशंसा करते हुए 'इण्डियन प्रेस' के वर्तमान स्वामी श्रीयुत हरिकेशव घोष लिखते हैं—

द्विवेदी जी के इस निश्चय ने उनके कई प्रगाढ़ मित्रों-को-रुष्ट कर दिया; पर द्विवेदी जी अपने निश्चय पर डटे रहे। स्वर्गीय पण्डित पद्मसिंह शर्मा ने 'सतसई-संहार' नामक लेख-माला छपने के लिए भेजी। द्विवेदी जी को उनकी शैली पसन्द न आई और उन्होंने उसमें परिवर्तन करना चाहा। शर्मा जी, इसके विपरीत, यह चाहते थे कि वह लेखमाला ज्यों-की-त्यों अविकल रूप में प्रकाशित हो—वाक्य या शब्द तो क्या उसमें कहीं एक अक्षर भी न बदला जाय। अतः द्विवेदी जी ने उसको छापना अस्वीकार कर दिया और वह लेखमाला लगभग एक वर्ष तक 'सरस्वती' कार्यालय में पड़ी रही। जब द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के सम्पादन से, वीमार हो जाने पर छुट्टी ले ली तब पण्डित देवीप्रसाद शुक्ल वी०ए० के सम्पादन-काल में वह प्रकाशित हो सकी।

सम्पादन-सम्बन्धी इस दृढ़ता के कारण द्विवेदी जी से बहुत से व्यक्ति रुष्ट हो गये और उन्हें अभिमानी और अशिष्ट समझने लगे। पर द्विवेदी जी उनसे नाराज न होकर उन्हें समझा-बुझा देना अच्छा समझते थे। प्रायः उनसे वे विनीत स्वर में कहते—'भाई साहब, आखिर आपको सर्वज्ञता का तो दावा है नहीं, हम सभी भूल कर सकते हैं। मैं भूल करूँ और आप बता दें तो मैं कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करूँगा।' उनकी यह विनम्रता कुछ लोगों को मुग्ध भी कर लेती थी। जिस व्यक्ति को योग्यता, ज्ञान, पद आदि का अभिमान हो जाता है वह दूसरों के ज़रा से विरोध पर उनका दुश्मन हो जाता है। पर साहित्यिक-क्षेत्र में ऐसे लोग प्रायः उन्नति नहीं करते। यहाँ तो ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता है जो जीवन भर अपने को विद्यार्थी समझें और स्वाध्याय में लगे रह कर गुरुजनों के अनुभव-जन्य ज्ञान से

द्विवेदी जी के इस निश्चय ने उनके कई प्रगाढ़ मित्रों-को-रुष्ट कर दिया; पर द्विवेदी जी अपने निश्चय पर डटे रहे। स्वर्गीय पण्डित पद्मसिंह शर्मा ने 'सतसई-संहार' नामक लेख-माला छपने के लिए भेजी। द्विवेदी जी को उनकी शैली पसन्द न आई और उन्होंने उसमें परिवर्तन करना चाहा। शर्मा जी, इसके विपरीत, यह चाहते थे कि वह लेखमाला ज्यों-की-त्यों अविकल रूप में प्रकाशित हो—वाक्य या शब्द तो क्या उसमें कहीं एक अक्षर भी न बदला जाय। अतः द्विवेदी जी ने उसको छापना अस्वीकार कर दिया और वह लेखमाला लगभग एक वर्ष तक 'सरस्वती' कार्यालय में पड़ी रही। जब द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के सम्पादन से, बीमार हो जाने पर छुट्टी ले ली तब पण्डित देवीप्रसाद शुक्ल वी०ए० के सम्पादन-काल में वह प्रकाशित हो सकी।

सम्पादन-सम्बन्धी इस दृढ़ता के कारण द्विवेदी जी से बहुत से व्यक्ति रुष्ट हो गये और उन्हें अभिमानी और अशिष्ट समझने लगे। पर द्विवेदी जी उनसे नाराज न होकर उन्हें समझा-बुझा देना अच्छा समझते थे। प्रायः उनसे वे विनीत स्वर में कहते—'भाई साहब, आखिर आपको सर्वज्ञता का तो दावा है नहीं, हम सभी भूल कर सकते हैं। मैं भूल करूँ और आप बता दें तो मैं कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करूँगा।' उनकी यह विनम्रता कुछ लोगों को मुग्ध भी कर लेती थी। जिस व्यक्ति को योग्यता, ज्ञान, पद आदि का अभिमान हो जाता है वह दूसरों के जरा से विरोध पर उनका दुश्मन हो जाता है। पर साहित्यिक-क्षेत्र में ऐसे लोग प्रायः उन्नति नहीं करते। यहाँ तो ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता है जो जीवन भर अपने को विद्यार्थी समझें और स्वाध्याय में लगे रह कर गुरुजनों के अनुभव-जन्य ज्ञान से

नहीं, न जाने क्या समझ कर लिख डाला है। वह करेक्शन देख कर प्रसन्नता हुई, मुँहलाहट-सी देख कर मज्जदारी भी आ गई; और फिर लेख के ऊपर यह राय पड़ी कि 'यह लेख समझ में नहीं आता है, इसलिए लौटा दिया जाता है।' यह राय क्या थी, उस अनुवाद को हज्जत देना था। वह बड़ों की विनय है।" —हंस, अभिनन्दनांक (अप्रैल १९३३, पृ० ३-४)

बहुत से लेखक इसी प्रकार संशोधनों से लाभ उठाया करते थे। एक स्थान पर स्वर्गीय श्री प्रेमचन्द जी ने भी लिखा है—
"जब मैंने नया-नया हिन्दी लिखना सीखा था, 'सरस्वती' में अपनी कहानियाँ भेजा करता था, तब द्विवेदी जी के किए हुए संशोधनों से लाभ उठाकर भविष्य में शुद्ध—हिन्दी लिखने का प्रयत्न करने के लिए, प्रत्येक कहानी की दो प्रति करके मैं एक अपने पास रख लेता था और कहानी के प्रकाशित होने पर बड़ी सावधानी के साथ, मूल से मिलाकर संशोधनों को समझने का प्रयत्न करता था कि अमुक शब्द के स्थान पर अमुक शब्द क्यों रक्खा गया है और इस परिवर्तन से कहानी में कोई विशेषता आई है या नहीं।" 'पंच-परमेश्वर' शीर्षक कहानी उन्होंने 'पंचों में ईश्वर' के नाम से प्रकाशित होने के लिए भेजी थी। इस शीर्षक के बदले जाने से जो चमत्कार और नवीनता आ गई उसे प्रेमचन्द जी ने भी स्वीकार किया है।

यह तो हुई गद्य, लेख, कहानी, आदि में किये हुए संशोधनों की बात, पद्य का भी उनको इसी प्रकार सम्पादन करना पड़ता था। लेकिन पद्य का सुधार करना इतना सरल नहीं था, जितना गद्य का। पद्य में छन्द, भाषा, भाव, प्रवाह, रस आदि सभी का ध्यान रखते हुए एक शब्द भी बदल देना

नहीं, न जाने क्या समझ कर लिख डाला है ! वह करेक्शन देख कर प्रसन्नता हुई, झुंझलाहट-सी देख कर मज्जदारी भी आ गई; और फिर लेख के ऊपर यह राय पड़ी कि 'यह लेख समझ में नहीं आता है, इसलिए लौटा दिया जाता है।' यह राय क्या थी, उस अनुवाद को इज्जत देना था। वह बड़ों की विनय है।" —हंस, अभिनन्दनांक (अप्रैल १९३३, पृ० ३-४)

बहुत से लेखक इसी प्रकार संशोधनों से लाभ उठाया करते थे। एक स्थान पर स्वर्गीय श्री प्रेमचन्द जी ने भी लिखा है—
“तब मैंने नया-नया हिन्दी लिखना सीखा था, 'सरस्वती' में अपनी कहानियाँ भेजा करता था, तब द्विवेदी जी के किए हुए संशोधनों से लाभ उठाकर भविष्य में शुद्ध—हिन्दी लिखने का प्रयत्न करने के लिए, प्रत्येक कहानी की दो प्रति करके मैं एक अपने पास रख लेता था और कहानी के प्रकाशित होने पर बड़ी सावधानी के साथ, मूल से मिलाकर संशोधनों को समझने का प्रयत्न करता था कि अमुक शब्द के स्थान पर अमुक शब्द क्यों रखा गया है और इस परिवर्तन से कहानी में कोई विशेषता आई है या नहीं।”
‘पंच-परमेश्वर’ शीर्षक कहानी उन्होंने ‘पंचों में ईश्वर’ के नाम से प्रकाशित होने के लिए भेजी थी। इस शीर्षक के बदले जाने से जो चमत्कार और नवीनता आ गई उसे प्रेमचन्द जी ने भी स्वीकार किया है।

यह तो हुई गद्य, लेख, कहानी, आदि में किये हुए संशोधनों की बात, पद्य का भी उनको इसी प्रकार सम्पादन करना पड़ता था। लेकिन पद्य का सुधार करना इतना सरल नहीं था, जितना गद्य का। पद्य में छन्द, भाषा, भाव, प्रवाह, रस आदि सभी का ध्यान रखते हुए एक शब्द भी बदल देना

पीठ पर टपका पड़ा तो आँख मेरी खुल गई
चार बूँदों से मिले मन की लँगोटी धुल गई ।
इसमें नीचे की पंक्ति उन्होंने बदलकर छापी—
विशद बूँदों से मिले मन मौज मिश्रो धुल गई ।”

वात यह है कि भावावेश में साधारण कवि प्रायः अपने को भूल कर विषय के बाहर की बातें लिख जाता है। कविता में से इन्हें हटाकर सारे पद्य को सुसंबंधित कर देना साधारण कार्य नहीं—कविता में परिवर्तन कर देने पर भी रस, प्रवाह, भाषा आदि में किसी प्रकार का दोष न आने देने के लिए बड़ी कुशलता और प्रचुर अभ्यास की अपेक्षा है। द्विवेदी जी ने इस कार्य को भी सफलता के साथ सम्पन्न किया। एक बार एक प्रसिद्ध कवि की रचना से उन्होंने साढ़े तीन छन्द (१४ पंक्तियाँ) निकालकर अपनी ओर से आधा छन्द (दो चरण) जोड़ दिया और विशेषता यह कि भाषा में किसी प्रकार का अंतर न आया, विचारों का तार न टूटा और छन्द में कहीं व्यतिक्रम न पड़ा। यह थी संपादन-कला और कुशलता। इसके लिए द्विवेदी जी को बहुत ही अधिक परिश्रम करना पड़ता था; चौबीसों घण्टे वे व्यस्त रहते थे। संपादन-कार्य के आगे उन्होंने कभी दिन को दिन और रात को रात नहीं समझा, वरन इसके लिए अपने स्वास्थ्य का—अंगरेजी कवि मिल्टन की भाँति अपनी नेत्र-ज्योति का—बलिदान कर दिया; परन्तु कभी दूसरों के आगे एक बार भी इसकी शिकायत नहीं की। १८ वर्ष के संपादकीय युग में केवल एक बार ही ऐसा अवसर आया था जब द्विवेदी जी ने ‘सरस्वती’ के दो अङ्क संयुक्त निकाले थे। साथ ही प्रत्येक अङ्क का प्रत्येक लेख सुसम्पादित रहता था और इनका संपादन भी इतनी कुशलता से किया जाता था

पीठ पर टपका पड़ा तो आँख मेरी खुल गई
चार बूँदों से मिले मन की लँगोटी धुल गई ।
इसमें नीचे की पंक्ति उन्होंने बदलकर छापी—
विशद बूँदों से मिले मन मौज मिश्रो धुल गई ।”

वात यह है कि भावावेश में साधारण कवि प्रायः अपने को भूल कर विषय के बाहर की बातें लिख जाता है। कविता में से इन्हें हटाकर सारे पद्य को सुसंबंधित कर देना साधारण कार्य नहीं—कविता में परिवर्तन कर देने पर भी रस, प्रवाह, भाषा आदि में किसी प्रकार का दोष न आने देने के लिए बड़ी कुशलता और प्रचुर अभ्यास की अपेक्षा है। द्विवेदी जी ने इस कार्य को भी सफलता के साथ सम्पन्न किया। एक बार एक प्रसिद्ध कवि की रचना से उन्होंने साढ़े तीन छन्द (१४ पंक्तियाँ) निकालकर अपनी ओर से आधा छन्द (दो चरण) जोड़ दिया और विशेषता यह कि भाषा में किसी प्रकार का अंतर न आया, विचारों का तार न टूटा और छन्द में कहीं व्यतिक्रम न पड़ा। यह थी संपादन-कला और कुशलता। इसके लिए द्विवेदी जी को बहुत ही अधिक परिश्रम करना पड़ता था; चौबीसों घण्टे वे व्यस्त रहते थे। संपादन-कार्य के आगे उन्होंने कभी दिन को दिन और रात को रात नहीं समझा, वरन इसके लिए अपने स्वास्थ्य का—अँगरेजी कवि मिल्टन की भाँति अपनी नेत्र-ज्योति का—बलिदान कर दिया; परन्तु कभी दूसरों के आगे एक बार भी इसकी शिकायत नहीं की। १८ वर्ष के संपादकीय युग में केवल एक बार ही ऐसा अवसर आया था जब द्विवेदी जी ने ‘सरस्वती’ के दो अङ्क संयुक्त निकाले थे। साथ ही प्रत्येक अङ्क का प्रत्येक लेख सुसम्पादित रहता था और इनका संपादन भी इतनी कुशलता से किया जाता था

तथा भावों का संशोधन कैसी सावधानी से करते थे और उनकी संशोधन-शैली किस प्रकार की थी। मूलपृष्ठ में लेख है और शंका-स्थलों पर नम्बर लगाकर हाशिये पर द्विवेदी जी के संशोधन तथा रिमार्क दिये हैं। यह लेख पंडित देवीदत्त शुक्ल का लिखा हुआ है जिसे उन्होंने द्विवेदी जी की संशोधन-शैली का परिचय देने के लिए, इसी रूप में 'माधुरी' में छपाया था।

तथा भावों का संशोधन कैसी सावधानी से करते थे और उनकी संशोधन-शैली किस प्रकार की थी। मूलपृष्ठ में लेख है और शंका-स्थलों पर नम्वर लगाकर हाशिये पर द्विवेदी जी के संशोधन तथा रिमार्क दिये हैं। यह लेख पंडित देवीदत्त शुक्ल का लिखा हुआ है जिसे उन्होंने द्विवेदी जी की संशोधन-शैली का परिचय देने के लिए, इसी रूप में 'माधुरी' में छपाया था।

(३) वे भी वहाँ की
भाषा के ज्ञान से

(४) ×

(५) है।

(६) पर

(७) ये (८) उ

(६) हिन्दुओं
(१०) अर्थात् गृह-
निर्माण

(११) साहित्य-
विषयक (१२) आ-
दिम (१३) ×

(१४) अब इतनी
(१५) उसका

अँगरेज लोगों को इस उदासीनता के कारणों में से मुख्य कारण यह है कि जो अँगरेज भारत में बरसों नौकरी पर रहते हैं (३) वे यहाँ देशी भाषा के ज्ञान में कोरे ही लौटते हैं। खेद के साथ कहना पड़ता है कि अँगरेजों और भारतवासियों के बीच और किसी बात में उतना भेद नहीं है (४) जितना कि ज्ञान सम्बन्धी साधनों के प्रति उदासीन रहने में (५)। और दुर्भाग्य से यह भेद दिन (६) दिन बढ़ता ही जा रहा है। भारत में अगणित भाषाएँ (७) हैं। (८) इनमें उर्दू एक महत्त्वपूर्ण भाषा है। इसका कारण यह है कि उसकी उत्पत्ति का सम्बन्ध संस्कृत से भी वैसा ही है जैसा कि अरबी और फ़ारसी से। अब वह केवल मुसलमानों ही की ज़बान नहीं रही, लाखों हिन्दुओं का भी उसपर अधिकार है। (९) हिन्दू और मुसलमानों का संमिश्रण स्थापत्य (१०) विद्या में भी विद्यमान है। इसका उदाहरण आगरे का ताजमहल है। (११) साहित्यिक संमिश्रण कविता में तो प्रकट ही है। यद्यपि (१२) मुसलमान आक्रमणकारियों (१३) तथा विजेताओं के सैनिकों के लश्कर से उर्दू उत्पन्न हुई है तथापि उसकी (१४) ऐसी भारी उन्नति हो गई है कि (१५) वह

(३) वे भी वहाँ की
भाषा के ज्ञान से

(४) ×

(५) है।

(६) पर

(७) ये (८) उ

(९) हिन्दुओं
(१०) अर्थात् गृह-
निर्माण

(११) साहित्य-
विषयक (१२) आ-
दिम (१३) ×

(१४) अब इतनी
(१५) उसका

अंगरेज लोगों को इस उदासीनता के कारणों में से मुख्य कारण यह है कि जो अंगरेज भारत में बरसों नौकरी पर रहते हैं (३) वे यहाँ देशी भाषा के ज्ञान में कोरे ही लौटते हैं। खेद के साथ कहना पड़ता है कि अंगरेजों और भारतवासियों के बीच और किसी बात में उतना भेद नहीं है (४) जितना कि ज्ञान सम्बन्धी साधनों के प्रति उदासीन रहने में (५)। और दुर्भाग्य से यह भेद दिन (६) दिन बढ़ता ही जा रहा है। भारत में अगणित भाषाएँ (७) हैं। (८) इनमें उर्दू एक महत्त्वपूर्ण भाषा है। इसका कारण यह है कि उसकी उत्पत्ति का सम्बन्ध संस्कृत से भी वैसा ही है जैसा कि अरबी और फ़ारसी से। अब वह केवल मुसलमानों ही की ज़बान नहीं रही, लाखों हिन्दुओं का भी उसपर अधिकार है। (९) हिन्दू और मुसलमानों का संमिश्रण स्थापत्य (१०) विद्या में भी विद्यमान है। इसका उदाहरण आगरे का ताजमहल है। (११) साहित्यिक संमिश्रण कविता में तो प्रकट ही है। यद्यपि (१२) मुसलमान आक्रमणकारियों (१३) तथा विजेताओं के सैनिकों के लश्कर से उर्दू उत्पन्न हुई है तथापि उसकी (१४) ऐसी भारी उन्नति हो गई है कि (१५) वह

(२३) उस समय के भी कुछ कवियों की रचनाओं में हृदयहारी भाव पाये जाते हैं।

(२४) किसी ने भी

(२५) भरे हुए

(२६) वे मूल्यवान् (२७) उनका

(२८) गालिव उस समय हुए थे

(२९) वस्तुयें

(३०) और दुःख के व्यंजक

(३१) अच्छी

(३२) उन्होंने अपने मन को दार्शनिक विचारों के स्रोत में

(२३) कुछ कवियों ने चमत्कारी भाव प्रकट किये थे, किंतु मौलिकता की ओर

(२४) ध्यान नहीं दिया। उस समय के कवियों में महाकवि गालिव का बड़ा नाम है। उनके पद्यों में केवल शब्द-वैचित्र्य तथा रूपकालंकार ही नहीं हैं, किंतु वे सुंदर तथा गंभीर भावों से (२५) ओत-प्रोत हैं। वे पद्य हमारी पसंद के हों चाहे न हों पर (२६) उनमें दृढ़ता अवश्य है। हम पर (२७) उस दृढ़ता का प्रभाव पड़ता है।

(२८) उनकी कविता का मुख्य स्वर सर्वा शुभवाद है। उनका समय वह था

जब पुरानी (२९) वस्तुएँ समय के प्रवाह से टूटफूटकर टुकड़े-टुकड़े हो रही थीं और अंतिम मुगल-सम्राट् बहादुरशाह बंदी बनाकर रंगून भेजे जा चुके थे। उसी समय गालिव ने मार्मिक पीड़ा (३०) तथा दुःख-सूचक अपने ख़ास विचार जगत् के सामने कविता के रूप में व्यक्त किये। मुगल-सम्राट् के पतन के साथ उन्होंने उन सब बातों को अंतर्धान होते देखा जिनको वे (३१) श्रेष्ठ तथा स्वच्छ समझते थे। (३२) वे किस तरह बार-बार अपने आपको अपने मस्तिष्क के दार्शनिक विचारों में गंकी

(२३) उस समय के भी कुछ कवियों की रचनाओं में हृदयहारी भाव पाये जाते हैं।

(२४) किसी ने भी

(२५) भरे हुए

(२६) वे मूल्य-

वान (२७) उनका

(२८) गालिव उस समय हुए थे

(२९) वस्तुयें

(३०) और दुःख के व्यंजक

(३१) अच्छी

(३२) उन्होंने अपने मन को दार्शनिक विचारों के स्रोत में

(२३) कुछ कवियों ने चमत्कारी भाव प्रकट किये थे, किंतु मौलिकता की ओर (२४) ध्यान नहीं दिया। उस समय के कवियों में महाकवि गालिव का बड़ा नाम है। उनके पद्यों में केवल शब्द-वैचित्र्य तथा रूपकालंकार ही नहीं हैं, किंतु वे सुंदर तथा गंभीर भावों से (२५) ओत-प्रोत हैं। वे पद्य हमारी पसंद के हों चाहे न हों पर (२६) उनमें दृढ़ता अवश्य है। हम पर (२७) उस दृढ़ता का प्रभाव पड़ता है।

(२८) उनकी कविता का मुख्य स्वर सर्वा शुभवाद है। उनका समय वह था जब पुरानी (२९) वस्तुएँ समय के प्रवाह से टूटफूटकर टुकड़े-टुकड़े हो रही थीं और अंतिम मुगल-सम्राट् बहादुरशाह बंदी बनाकर रंगून भेजे जा चुके थे। उसी समय गालिव ने मार्मिक पीड़ा (३०) तथा दुःख-सूचक अपने स्नात विचार जगत के सामने कविता के रूप में व्यक्त किये। मुगल-सम्राट् के पतन के साथ उन्होंने उन सब बातों को अंतर्धान होते देखा जिनको वे (३१) श्रेष्ठ तथा स्वच्छ समझते थे। (३२) वे किस तरह बार-बार अपने आपको अपने मस्तिष्क के दार्शनिक विचारों में गंकी

(४६) हाय ! (५०) ×

(५१), सब नहीं ।

(५२) × (५३)

उनमें से

(५४) नीचे (५५) ×

(५६) हैं × ये

(५७), इंग्लैंड में,

(५८) । (५९)

× (६०) क्या मत-

लव ? (६१) जगत

एक ही है । उसमें

उत्तरी, दक्षिणी,

भाग करना ज़बर-

दस्ती है । पाश्चात्य

देश क्यों न लिखें ।

“(४६) सब नहीं, हम लोगों के पास (५०) हाय, केवल कुछ ही गुले लाल तथा गुलाब के रूप में आये हैं (५१)

“(५२) हे भगवन्, (५३) कुछ लोगों के मुख कैसे सुन्दर रहे होंगे जो अब (५४) धूल में (५५) नीचे दबे छिपे पड़े हैं।”

परन्तु गालिव भूतकाल के कवि हैं । लोग उनकी कविताएँ इसी दृष्टि से नहीं पढ़ते कि वे प्राचीन कवि की (५६) रचो हुई हैं । उनकी रचनाएँ भारत में उसी दृष्टि से पढ़ी जाती हैं जैसे कि यहाँ (५७) (इंग्लैंड में) मिल्टन की (५८) हाँ यह (५९) बात ठीक है कि नई सन्तान को उनकी कविताओं में अर्वाचीन मानव-समाज की (६०) मिश्रित अभिलाषाओं के भावों का दिग्दर्शन नहीं होता ।

जब से भारत का पाश्चात्य (६१) जगत् के साथ सम्बन्ध हुआ है तब से उर्दू-साहित्य में नये-नये प्रभाव आप ही आप पड़ने लगे हैं । वह पुरानी कविता जिसका आदर्श फारसी कविता थी आध्यात्मिक तथा प्रेम के भावों से परिपूर्ण रहती थी अब क्रमशः निर्बल पड़ने लगी, यहाँ तक कि विगत शताब्दी के ८०वें वर्ष में उसकी इतिश्री हो गई । महाकवि हाली ने खुल्लम-खुल्ला उसके विरुद्ध कह कर उसका प्रभाव नष्ट कर डाला ।

(४६) हाय ! (५०) ×

(५१), सब नहीं ।

(५२) × (५३)

उनमें से

(५४) नीचे (५५) ×

(५६) हैं × यें

(५७), इंग्लैंड में,

(५८) । (५९)

× (६०) क्या मत-

लव ? (६१) जगत

एक ही है । उसमें

उत्तरी, दक्षिणी,

भाग करना ज़बर-

दस्ती है । पाश्चात्य

देश क्यों न लिखें ।

“(४६) सब नहीं, हम लोगों के पास (५०) हाय, केवल कुछ ही गुले लाल तथा गुलाब के रूप में आये हैं (५१)

“(५२) हे भगवन्, (५३) कुछ लोगों के मुख कैसे सुन्दर रहे होंगे जो अब (५४) धूल में (५५) नीचे दबे छिपे पड़े हैं ।”

परन्तु गालिव भूतकाल के कवि हैं । लोग उनकी कविताएँ इसी दृष्टि से नहीं पढ़ते कि वे प्राचीन कवि की (५६) रची हुई हैं । उनकी रचनाएँ भारत में उसी दृष्टि से पढ़ी जाती हैं जैसे कि यहाँ (५७) (इंग्लैंड में) मिल्टन की (५८) हाँ यह (५९) वात ठीक है कि नई सन्तान को उनकी कविताओं में अर्वाचीन मानव-समाज की (६०) मिश्रित अभिलाषाओं के भावों का दिग्दर्शन नहीं होता ।

जब से भारत का पाश्चात्य (६१) जगत् के साथ सम्बन्ध हुआ है तब से उर्दू-साहित्य में नये-नये प्रभाव आप ही आप पड़ने लगे हैं । वह पुरानी कविता जिसका आदर्श फारसी कविता थी आध्यात्मिक तथा प्रेम के भावों से परिपूर्ण रहती थी अब क्रमशः निर्वल पड़ने लगी, यहाँ तक कि विगत शताब्दी के ८०वें वर्ष में उसकी इतिश्री हो गई । महाकवि हाली ने खुल्लम-खुल्ला उसके विरुद्ध कह कर उसका प्रभाव नष्ट कर डाला ।

(७) और

ऐसी करुणाजनक, ऐसी उत्तेजक (७) ऐसी सच्ची कवित्वपूर्ण है कि उसने मुसलमान समाज के अहंदियों तक को अपनी निद्रा से चौंका दिया।

मैंने सिद्धांतहीन, धार्मिक तथा भ्रातृत्व के भावों से शून्य और विषयामक्त मनुष्य देखे हैं। ये ऐसे लोग हैं जो अपने भोग-विलास के कारण दुःख शब्द का उच्चारण तक सुनना गवारा नहीं कर सकते और यदि किसी गायक ने इन लोगों के सामने कोई दुःखव्यंजक पद गा दिया तो उसकी खैर न समझिए। अपमान-सूचक शब्दों से वह तिरस्कृत कर दिया जायगा। परन्तु ये ही लोग मुसलमान के पढ़े जाने पर एतराज नहीं करते और जब तक उसका पढ़ना जारी रहता है तब तक ये लोग बैठे रोया करते हैं।

मैंने अपने देश के अन्य धर्मावलम्बियों को इसके सुनने से अश्रुपात करते देखा है। और कैसा अश्रुपात जो हृदयगंत दुःख के कारण स्वतः प्रवृत्त हुए थे (८) और सच्चे थे।”

(८) अतएव

प्राच्य में कविता अब तक भी हम लोगों के लिए एक जीवनी शक्ति है और हम उन भावों को व्यक्त करने में ज़रा भी लज्जित नहीं होते जो वह उत्तेजित करती है।

(७) और

ऐसी करुणाजनक, ऐसी उत्तेजक (७) ऐसी सच्ची कवित्वपूर्ण है कि उसने मुसलमान समाज के अहंदियों तक को अपनी निद्रा से चौंका दिया।

मैंने सिद्धांतहीन, धार्मिक तथा भ्रातृत्व के भावों से शून्य और विषयामक मनुष्य देखे हैं। ये ऐसे लोग हैं जो अपने भोग-विलास के कारण दुःख शब्द का उच्चारण तक सुनना गवारा नहीं कर सकते और यदि किसी गायक ने इन लोगों के सामने कोई दुःखव्यंजक पद गा दिया तो उसकी खैर न ममभिय। अपमान-सूचक शब्दों से वह तिरस्कृत कर दिया जायगा। परन्तु ये ही लोग मुसद्दस के पढ़े जाने पर एतराज नहीं करते और जब तक उसका पढ़ना जारी रहता है तब तक ये लोग बैठे रोया करते हैं।

मैंने अपने देश के अन्य धर्मावलम्बियों को इसके सुनने से अश्रुपात करते देखा है। और कैसा अश्रुपात जो हृदयगंत दुःख के कारण स्वतः प्रवृत्त हुए थे (८) और सच्चे थे।”

(८) अतएव

प्राच्य में कविता अब तक भी हम लोगों के लिए एक जीवनी शक्ति है और हम उन भावों को व्यक्त करने में ज़रा भी लज्जित नहीं होते जो वह उत्तेजित करती है।

फिर लिखिए और
मुझे भेजिए।

म० प्र० द्वि०

१६।३।२०

इन ग्रंथों में वह नई आत्मा चमक रही
है जिसने भारत को जगा दिया है।

(१७) इकबाल के 'नरान' उर्दू भाषी

भारत का जातीय जीवन के रूप में स्वी-
कार किये गये हैं।

—

फिर लिखिए और
मुझे भेजिए।

म० प्र० द्वि०

१६।३।२०

इन ग्रंथों में वह नई आत्मा चमक रही
है जिसने भारत को जगा दिया है।

(१७) इकबाल के 'नरान' उर्दू भाषी
भारत का जातीय गीत के रूप में स्वी-
कार किये गये हैं।

नाम से 'अनस्थिरता' शब्द की हँसी उड़ाते हुए एक लेख-माला ही निकाल दी। यह 'भारत-मित्र' में प्रकाशित हुई। इस लेख-माला का कुछ अंश भद्रे विनोद का नमूना था। भाषा इसकी बड़ी ही उग्र थी। बात यह थी कि द्विवेदी जी ने अपने लेख में गुप्त जी के बँगला-अनुवाद का एक अवतरण देकर उसमें अनुवाद के दोष दिखलाये थे। वस, गुप्त जी आपसे बाहर होकर द्विवेदी जी पर बाग़बाण बरसाने लगे। 'हम पञ्चन के ट्वाला माँ' जैसे वैसेवाड़ी के वाक्यों का प्रयोग करके गुप्त जी ने द्विवेदी जी का उस लेख-माला में गहरा उपहास किया। इस लेखमाला में सहृदयता, सौजन्य और शिष्टता तक का ध्यान नहीं रक्खा गया। इस पर द्विवेदी जी बड़े चूबध हुए। 'कल्लू अल्हड़न' के कल्पित नाम से उन्होंने 'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं' शीर्षक आल्हा छन्द में एक भड़ौचा लिखकर गुप्त जी के भद्रे विनोद का तादृश ही उत्तर दिया। गुप्त जी ने इस पर अपनी राय देते हुए लिखा—

“भाई बाह ! कल्लू अल्हड़न का आल्हा खूब हुआ। क्यों न हो, अपनी स्वाभाविक बोली में है न।”

द्विवेदी जी का यह आल्हा जनवरी १९०६ की 'सरस्वती' में (भाग १, संख्या १, पृष्ठ ६८) प्रकाशित हुआ। दूसरे ही महीने में उन्होंने 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक एक लेख लिखा, जो फरवरी १९०६ की 'सरस्वती' में (भाग १, संख्या २, पृष्ठ ६०) प्रकाशित हुआ। इस लेख में द्विवेदी जी ने गुप्त जी की युक्तियों का बड़े सुन्दर ढंग से व्यङ्ग्य की पुट देते हुए खंडन किया। परिणाम-स्वरूप हिन्दी के तत्कालीन सभी धुरंधर विद्वान् द्विवेदी जी के पक्ष में हो गये। हिन्दी-संसार में हलचल मच गई। द्विवेदी जी के पक्षपातियों ने गुप्त जी को मुँहतोड़

नाम से 'अनस्थिरता' शब्द की हँसी उड़ाते हुए एक लेख-माला ही निकाल दी। यह 'भारत-मित्र' में प्रकाशित हुई। इस लेख-माला का कुछ अंश भद्रे विनोद का नमूना था। भाषा इसकी बड़ी ही उग्र थी। बात यह थी कि द्विवेदी जी ने अपने लेख में गुप्त जी के बँगला-अनुवाद का एक अवतरण देकर उसमें अनुवाद के दोष दिखलाये थे। वस, गुप्त जी आपे से बाहर होकर द्विवेदी जी पर बाग़्बाण बरसाने लगे। 'हम पञ्चन के ट्वाला माँ' जैसे बँसवाड़ी के वाक्यों का प्रयोग करके गुप्त जी ने द्विवेदी जी का उस लेख-माला में गहरा उपहास किया। इस लेखमाला में सहृदयता, सौजन्य और शिष्टता तक का ध्यान नहीं रक्खा गया। इस पर द्विवेदी जी बड़े चुन्ध हुए। 'कल्लू अल्हइन' के कल्पित नाम से उन्होंने 'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं' शीर्षक आल्हा छन्द में एक भड़ौचा लिखकर गुप्त जी के भद्रे विनोद का ताड़श ही उत्तर दिया। गुप्त जी ने इस पर अपनी राय देते हुए लिखा—

“भाई बाह ! कल्लू अल्हइत का आल्हा खूब हुआ। क्यों न हो, अपनी स्वाभाविक बोली में है न।”

द्विवेदी जी का यह आल्हा जनवरी १९०६ की 'सरस्वती' में (भाग १, संख्या १, पृष्ठ ६८) प्रकाशित हुआ। दूसरे ही महीने में उन्होंने 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक एक लेख लिखा, जो फरवरी १९०६ की 'सरस्वती' में (भाग १, संख्या २, पृष्ठ ६०) प्रकाशित हुआ। इस लेख में द्विवेदी जी ने गुप्त जी की युक्तियों का बड़े सुन्दर ढंग से व्यङ्ग्य की पुट देते हुए खंडन किया। परिणाम-स्वरूप हिन्दी के तत्कालीन सभी धुरंधर विद्वान् द्विवेदी जी के पक्ष में हो गये। हिन्दी-संसार में हलचल मच गई। द्विवेदी जी के पक्षपातियों ने गुप्त जी को मुँहतोड़

पत्र में थे। चक्रवर्ती जी 'भारतमित्र' के सम्पादक थे, उन्होंने कई सम्पादकीय नोट लिख कर अपने विचारों को प्रकट किया। ये महाशय तो विभक्ति-सम्मेलन तक करने के पत्र में थे। अपने कथन की पुष्टि में इन्होंने स्वर्गीय अम्बिकादत्त व्यास के लिखे हुए एक पोस्टकार्ड का क्लिप भी प्रकाशित किया, जिसमें विभक्ति सटी हुई लिखी गई थी। यह क्लिप १९०६ के अगस्त मास के 'भारतमित्र' में छपा था। ३१ अगस्त के अंक में साहित्योपाध्याय बदरीनाथ शर्मा ने जो मिर्जापुर के निवासी थे, इस कार्ड का खण्डन करते हुए अपना लेख लिखा। विपक्षियों में पण्डित रामचन्द्र शुक्ल का लेख बड़ा सुन्दर था। यह लेख 'अभ्युदय' के १९०६ के २३ और ३० जुलाई तथा ६ अगस्त के अंकों में प्रकाशित हुआ था। फिर १०, ११, २४ सितम्बर के अंकों में भी इन्हीं विचारों का समर्थन करते हुए शुक्ल जी ने नोट लिखे।

प्रायः ये सभी लेख पण्डित गोविन्दनारायण मिश्र के विचारों को काटते थे। मिश्र जी ही इस आन्दोलन के नायक और सटाऊ-सिद्धान्त के पक्षपाती थे। उन्होंने 'विभक्ति-विचार' नाम की एक छोटी-सी पुस्तक ही इस विषय पर लिख डाली। इसमें इन्होंने हिन्दी की विभक्तियों को शुद्ध विभक्तियाँ सिद्ध किया और यह सलाह दी कि इन्हें शब्दों से मिलाकर लिखना ही उचित होगा। इनके विचारों का खण्डन करते हुए पण्डित रामचन्द्र शुक्ल और वायू भगवानदास हालना ने लेख लिखे थे।

द्विवेदी जी, एक प्रकार से, इस वादविवाद से अलग ही रहे। यह बात वास्तव में बड़े आश्चर्य की है कि उन्होंने इस आन्दोलन में भाग क्यों नहीं लिया। शायद उन्होंने इसकी

पत्र में थे। चक्रवर्ती जी 'भारतमित्र' के सम्पादक थे, उन्होंने कई सम्पादकीय नोट लिख कर अपने विचारों को प्रकट किया। ये महाशय तो विभक्ति-सम्मेलन तक करने के पत्र में थे। अपने कथन की पुष्टि में इन्होंने स्वर्गीय अम्बिकादत्त व्यास के लिखे हुए एक पोस्टकार्ड का ब्लाक भी प्रकाशित किया, जिसमें विभक्ति सटी हुई लिखी गई थी। यह ब्लाक १९०६ के अगस्त मास के 'भारतमित्र' में छपा था। ३१ अगस्त के अङ्क में साहित्योपाध्याय बदरीनाथ शर्मा ने जो मिर्जापुर के निवासी थे, इस कार्ड का खण्डन करते हुए अपना लेख लिखा। विपक्षियों में पण्डित रामचन्द्र शुक्ल का लेख बड़ा सुन्दर था। यह लेख 'अभ्युदय' के १९०६ के २३ और ३० जुलाई तथा ६ अगस्त के अङ्कों में प्रकाशित हुआ था। फिर १०, ११, २४ सितम्बर के अङ्कों में भी इन्हीं विचारों का समर्थन करते हुए शुक्ल जी ने नोट लिखे।

प्रायः ये सभी लेख पण्डित गोविन्दनारायण मिश्र के विचारों को काटते थे। मिश्र जी ही इस आन्दोलन के नायक और सटाऊ-सिद्धान्त के पक्षपाती थे। उन्होंने 'विभक्ति-विचार' नाम की एक छोटी-सी पुस्तक ही इस विषय पर लिख डाली। इसमें इन्होंने हिन्दी की विभक्तियों को शुद्ध विभक्तियाँ सिद्ध किया और यह सलाह दी कि इन्हें शब्दों से मिलाकर लिखना ही उचित होगा। इनके विचारों का खण्डन करते हुए पण्डित रामचन्द्र शुक्ल और बाबू भगवानदास हालना ने लेख लिखे थे।

द्विवेदी जी, एक प्रकार से, इस वादविवाद से अलग ही रहे। यह बात वास्तव में बड़े आश्चर्य की है कि उन्होंने इस आन्दोलन में भाग क्यों नहीं लिया। शायद उन्होंने इसकी

“भाषा इसकी परिमार्जित नहीं है। अनेक स्थलों की रचना व्याकरण-व्युत्त भी है। संभव है, तीन आदमियों की शिरकत इसी भाषा के अधिकांश दोषों का कारण हो। अच्छे लेखक की भाषा वैसी होनी चाहिए, वैसी भाषा इस पुस्तक की नहीं। दो-चार उदाहरण लीजिए:—

“(१) हिंदी-कविता के समान संसार में किसी भाषा की रचना ऐसी सौष्ठव, और श्रुति-मधुर नहीं है। —भूमिका, पृष्ठ ३०। किसी भाषा की रचना ऐसी सौष्ठव.....नहीं है—यह बिल्कुल ही अशुद्ध है। ‘सौष्ठव’ की जगह ‘सुष्ठु’ चाहिए। इसके सिवा सारे संसार की भाषाओं के विषय में वही मनुष्य कुछ कह सकता है जो उन सबको जानता है। क्या लेखक उन सबको जानने का दावा कर सकते हैं ?

“(२) हमने उनका वर्णन थोड़े में ‘स्थाली पुलाक न्याय’ दिखा दिया है। पृष्ठ २१५।

दूषित भाषा का यह बहुत बुरा उदाहरण है। इस विषय के अधिक उदाहरण देकर हम लेख नहीं बढ़ाना चाहते। इतने ही उदाहरण देखकर ‘स्थाली पुलाक न्याय’ से पाठक समझ सकेंगे कि इसकी भाषा सदोष है या निर्दोष और यदि सदोष है तो कितनी।”

इसी प्रकार अनेक स्थलों के दोष दिखाने के पश्चात् ‘वाक्य और वाक्यांश-दोष’, ‘शब्द-दोष’, ‘फुटकर दोष’ पर प्रकाश डालते हुए द्विवेदी जी ने लिखा—

“‘ब’ और ‘व’ की तो बड़ी ही दुर्दशा हुई है। ब्रजभाषा, ‘वल्लभाचार्य’, ‘विरह’, ‘विषय’, ‘विध’ और ‘वियोग’ आदि हजारों शब्द इसमें ऐसे हैं जिनमें ‘व’ के बदले ‘ब’ का प्रयोग हुआ है। लेखक महोदयों ने स्वयं अपने नामों के ‘विहारी’ शब्दों में भी ‘ब’ का

“भाषा इसकी परिमार्जित नहीं है। अनेक स्थलों की रचना व्याकरण-व्युत्त भी है। संभव है, तीन आदमियों की शिरकत इसकी भाषा के अधिकांश दोषों का कारण हो। अच्छे लेखक की भाषा जैसी होनी चाहिए, वैसी भाषा इस पुस्तक की नहीं। दो-चार उदाहरण लीजिए:—

“(१) हिंदी-कविता के समान संसार में किसी भाषा की रचना ऐसी सौष्ठव, और श्रुति-मधुर नहीं है। —भूमिका, पृष्ठ ३०। किसी भाषा की रचना ऐसी सौष्ठव.....नहीं है—यह बिल्कुल ही अशुद्ध है। ‘सौष्ठव’ की जगह ‘सुष्ठु’ चाहिए। इसके सिवा सारे संसार की भाषाओं के विषय में वही मनुष्य कुछ कह सकता है जो उन सबको जानता है। क्या लेखक उन सबको जानने का दावा कर सकते हैं ?

“(२) हमने उनका वर्णन थोड़े में ‘स्थाली पुलाक न्याय’ दिखा दिया है। पृष्ठ २१५।

दूषित भाषा का यह बहुत बुरा उदाहरण है। इस विषय के अधिक उदाहरण देकर हम लेख नहीं बढ़ाना चाहते। इतने ही उदाहरण देखकर ‘स्थाली पुलाक न्याय’ से पाठक समझ सकेंगे कि इसकी भाषा सदोष है या निर्दोष और यदि सदोष है तो कितनी।”

इसी प्रकार अनेक स्थलों के दोष दिखाने के पश्चात् ‘वाक्य और वाक्यांश-दोष’, ‘शब्द-दोष’, ‘फुटकर दोष’ पर प्रकाश डालते हुए द्विवेदी जी ने लिखा—

“‘ब’ और ‘व’ की तो बड़ी ही दुर्दशा हुई है। व्रजभाषा, ‘वल्लभाचार्य’, ‘विरह’, ‘विषय’, ‘विध’ और ‘वियोग’ आदि हजारों शब्द इसमें ऐसे हैं जिनमें ‘व’ के बदले ‘ब’ का प्रयोग हुआ है। लेखक महोदयों ने स्वयं अपने नामों के ‘विहारी’ शब्दों में भी ‘ब’ का

‘द्विवेदी जी—‘अथर्व’ यद्यपि पञ्चम का विशेष है; परन्तु वह ‘अथर्व’ क्यों नहीं ?

इसी प्रकार जब पंडित रामानुज शर्मा ने ‘हिंदी-शिक्षक’ व्याकरण नाम की पुस्तक में लिखा—

‘तू’ का सम्प्रदान में ‘तुम्हारे लिए’ या ‘तुम्हारे लिये’ का अर्थ ‘तुम्हारे’ और ‘तुम्हारी’ हो जाती है ।

तब द्विवेदी जी ने ज्ञान मोक्ष दिया कि ‘तुम्हारे’ के लिए और ‘तेरा, तेरे, तेरी’ क्यों न हो ? हमके भिन्न हो जाती है क्यों ? ‘हो जाता है’ या ‘हो जाते हैं’ क्यों न होना चाहिए ?

सरस्वती (११-६-४३०)

एक अंक में ‘मंस्कृत-प्रवर्धनार्थ’ (सम्पादक, काञ्चनजीराम जी-लाल जैन) पर नोट देते हुए लिखा—

“हमके लेखक व्याकरण-शास्त्री हैं । याशा है, आप व्याकरण का सहज, खूब जानते होंगे । वे यह भी जानते होंगे कि व्याकरण की सत्ता सभी भाषाओं पर है । हिंदी भी एक भाषा है । अतएव वह भी अपने व्याकरण के नियमों के अधीन है । पर इस नियम की बाद आप शायद भूल गये हों । आपका एक वाक्य है—‘दूसरे भाग में शेष कुल विभक्ति और धातुओं के रूप प्रयोग सहित बतलाए गए हैं ।’ इस वाक्य में पहले तो ‘विभक्ति’ लिखना, फिर उसे एक वचन में रखना औरों को न खटके तो न खटके, व्याकरण-शास्त्रियों को तो अवश्य ही खटकना चाहिए ।”

सरस्वती (११-४-२७७)

ऐसे संशोधनों से लेखकों का बड़ा उपकार होता था । बहुत से लोग उनकी इन बातों को सहर्ष ग्रहण कर लेते

‘द्विवेदी जी—‘शब्द’ यद्यपि ‘शब्द’ का विशेष है; अतएव वह ‘शब्द’ क्यों नहीं ?

इसी प्रकार जब पंडित दादाजी शर्मा ने ‘हिंदी-शिक्षक’ व्याकरण नाम की पुस्तक में लिखा—

‘तू’ का संप्रदान में ‘तुम्हारे लिए’ या ‘तुम्हारे’ जगह ‘तुम्हें’ और ‘तुम्हारी’ हो जाती है ।

तब द्विवेदी जी ने प्रश्न पोट दिया कि ‘तुम्हें’ पर ‘तेरे लिए’ और ‘तेरा, तेरे, तेरी’ क्यों न हो ? इसके सिवा ‘हो जाती है’ क्यों ? ‘हो जाता है’ या ‘हो जाते हैं’ क्यों न होना चाहिए ?

सरस्वती (११-६-४३०)

एक अंक में ‘मंस्कृत-प्रवेशिका’ (सम्पादक, काव्यनीध लाल जैन) पर नोट देते हुए लिखा—

“इसके लेखक व्याकरण-शास्त्री हैं । आशा है, आप व्याकरण का महत्व खूब जानते होंगे । वे यह भी जानते होंगे कि व्याकरण की सत्ता सभी भाषाओं पर है । हिंदी भी एक भाषा है । अतएव वह भी अपने व्याकरण के नियमों के अधीन है । पर इस नियम की बात आप शायद भूल गये हों । आपका एक वाक्य है—‘दूसरे भाग में शेष कुल विभक्ति और धातुओं के रूप प्रयोग सहित बतलाए गए हैं ।’ इस वाक्य में पहले तो ‘विभक्ति’ लिखना, फिर उसे एक वचन में रखना औरों को न खटके तो न खटके, व्याकरण-शास्त्रियों को तो अवश्य ही खटकना चाहिए ।”

सरस्वती (११-४-२७७)

ऐसे संशोधनों से लेखकों का बड़ा उपकार होता था । बहुत से लोग उनकी इन बातों को सहर्ष ग्रहण कर लेते

उन्हें समग्र रामायण बनाने की लालसा हुई और तब उन्होंने शेष ग्रन्थ भी बनाया । पृष्ठ ५० ।

इस प्रकार के लम्बे-लम्बे वाक्यों से द्विवेदी जी को बहुत चिढ़ थी । इस वाक्य पर उन्होंने अपना नोट यों दिया था—

‘हममें पिछले दो ‘और’ जाने से बेतरह शिथिलता आ गई । उन्हें निकाल कर उनकी जगह एक-एक पाई (फुलस्टॉप) रख देने से यह दोष दूर हो जाता ।’

इसी प्रकार ‘श्री समय सार-टीका’ की आलोचना भी भाषा-सुधार का एक सुन्दर नमूना है । यह आलोचना अगस्त १९१८ की ‘सरस्वती’ (पृष्ठ ११०) में प्रकाशित हुई थी । पुस्तक की भूमिका के कुछ वाक्य यों थे—

“इस भाषा करने में हमने अति साहस किया है । यह काम न्याय और व्याकरण के विद्वानों का था पर हमारे समान विद्वत्ता-रहित व्यक्ति का न था तो भी आत्मप्रेमवश जो यह साहस किया है उस पर विद्वज्जन हास्य न करके कृपादृष्टि द्वारा इसे अवलोकन करेंगे और जहाँ कोई भूल मालूम पड़े उसे अवश्य सूचित करेंगे । क्योंकि सुझाव अल्प ज्ञानी द्वारा भी भूलें हो जाना सम्भव है ।”

द्विवेदी जी ने इस पर जो नोट लिखा वह इस प्रकार है—

“यह अत्यंत शिथिल भाषा का अच्छा नमूना है । यही बात और तरह बड़ी अच्छी हिंदी में लिखी जा सकती थी । और शैली का विचार जाने दीजिए । ‘इस और भाषा’ शब्दों के बीच एक ‘की’ दरकार है । दूसरे वाक्य में ‘पर’ शब्द व्यर्थ है । ‘तो’ का इस्तेमाल ही गलत है । वह तो होना ही चाहिए । अंतिम वाक्य का

उन्हें समग्र रामायण बनाने की लालसा हुई और तब उन्होंने शेष ग्रन्थ भी बनाया। पृष्ठ १०।

इस प्रकार के लम्बे-लम्बे वाक्यों से द्विवेदी जी को बहुत चिढ़ थी। इस वाक्य पर उन्होंने अपना नोट यों दिया था—

‘हममें पिछले दो ‘और’ जाने से बेतरह शिथिलता आ गई। उन्हें निकाल कर उनकी जगह एक-एक पाई (फुलस्टाप) रख देने से यह दोष दूर हो जाता।’

इसी प्रकार ‘श्री समय सार-टीका’ की आलोचना भी भाषा-सुधार का एक सुन्दर नमूना है। यह आलोचना अगस्त १९१८ की ‘सरस्वती’ (पृष्ठ ११०) में प्रकाशित हुई थी। पुस्तक की भूमिका के कुछ वाक्य यों थे—

“इस भाषा करने में हमने अति साहस किया है। यह काम न्याय और व्याकरण के विद्वानों का था पर हमारे समान विद्वत्-रहित व्यक्ति का न था तो भी आत्मप्रेमवश जो यह साहस किया है उस पर विद्वज्जन हास्य न करके कृपादृष्टि द्वारा इसे अवलोकन करेंगे और जहाँ कोई भूल मालूम पड़े उसे अवश्य सूचित करेंगे। क्योंकि मुक्त जैमि अल्प ज्ञानी द्वारा भी भूलें हो जाना सम्भव है।”

द्विवेदी जी ने इस पर जो नोट लिखा वह इस प्रकार है—

“यह अत्यंत शिथिल भाषा का अच्छा नमूना है। यही बात और तरह बड़ी अच्छी हिंदी में लिखी जा सकती थी। खैर शैली का विचार जाने दीजिए। ‘इस’ और ‘भाषा’ शब्दों के बीच एक ‘की’ दरकार है। दूसरे वाक्य में ‘पर’ शब्द व्यर्थ है। ‘तो’ का इस्तेमाल ही शल्लभ है। वह ‘तो’ होना ही चाहिए। अंतिम वाक्य का

शुद्धता और भाषा की सफाई के साथ-साथ हिन्दी का प्रचार भी बढ़ा। यह देखकर आचार्य को बड़ी प्रसन्नता हुई। इस प्रसन्नता में विजयोन्माद नहीं था, अभिमान नहीं था, केवल आत्मतुष्टि का भाव था। इसका अनुभव वही कर सकता है जो दिन-रात एक करके सच्ची लगन के साथ परिश्रम करे और अन्त में अभिलषित सफलता प्राप्त कर सके।

शुद्धता और भाषा की सफाई के साथ-साथ हिन्दी का प्रचार भी बढ़ा। यह देखकर आचार्य को बड़ी प्रसन्नता हुई। इस प्रसन्नता में विजयोन्माद नहीं था, अभिमान नहीं था, केवल आत्मतुष्टि का भाव था। इसका अनुभव वही कर सकता है जो दिन-रात एक करके सच्ची लगन के साथ परिश्रम करे और अन्त में अभिलषित सफलता प्राप्त कर सके।

समय साहित्य-सेवियों के दल बने थे। वे एक-दूसरे के दीप दिखाने में व्यंग्य और कटाक्ष-पूर्ण भाषा का सहारा लेते थे। फलतः विभिन्न दलों में विरोध-भावना और भी प्रबल होती जाती थी। साहित्य को इससे बड़ी क्षति पहुँच रही थी। जिन पढ़े-लिखे विद्वानों के हृदयों में हिन्दी-साहित्य के रिक्त अंगों को देखकर कसक उठती थी और जो उसकी उन्नति के लिए सचेत होकर प्रयत्नशील थे, वे इस पक्षपातपूर्ण दोष-प्रदर्शन-कार्य को, जिसे वे समालोचना के नाम से ही पुकारते थे, देखकर मन मसोस कर रह जाते थे। ऐसी आलोचना करते समय लेखक इस बात का ध्यान अवश्य रखता था कि कहीं हमारे दलवाले इससे असंतुष्ट तो नहीं हो जायँगे। यों उस समय, समालोचना प्रायः पक्षपातपूर्ण ही होती थी और समालोचना का लक्ष्य कृति न होकर व्यक्ति-विशेष रहता था। इस कथन की पुष्टि बाबू श्यामसुन्दरदास के एक पत्र से होती है जो उन्होंने सन् १८६६ में द्विवेदी जी को लिखा था। द्विवेदीजी ने एक यथार्थ समालोचना सभा के द्वारा प्रकाशित कराने के लिए भेजी थी। उसी के उत्तर में मंत्री की हैसियत से बाबूजी ने पत्र लिखा था।

काशी, २६-४-१८६६

“पूज्यवर,

हमारी सभा और विशेष कर हमारे समाज की अवस्था विचित्र है। ये ही बड़े भाग्य हैं कि सभा श्रय तक चली जाती है। द्वेष और द्वेष सच स्थानों में नाश का मूल कारण हुआ। उसकी हमारे यहाँ न्यूनता नहीं है—लोगों को प्रसन्न रखना बड़ा कठिन है—अप्रसन्न करने में विलम्ब नहीं लगता—समालोचनाओं के यथार्थ रूप में करने से हम किसी को भी सन्तुष्ट न कर सकेंगे (यह वाक्य गलत

समय साहित्य-सेवियों के दल बने थे। वे एक-दूसरे के दोष दिखाने में व्यंग्य और कटाक्ष-पूर्ण भाषा का सहारा लेते थे। फलतः विभिन्न दलों में विरोध-भावना और भी प्रबल होती जाती थी। साहित्य को इससे बड़ी क्षति पहुँच रही थी। जिन पढ़े-लिखे विद्वानों के हृदयों में हिन्दी-साहित्य के रिक्त अंगों को देखकर कसक उठती थी और जो उसकी उन्नति के लिए सचेत होकर प्रयत्नशील थे, वे इस पक्षपातपूर्ण दोष-प्रदर्शन-कार्य को, जिसे वे समालोचना के नाम से ही पुकारते थे, देखकर मन मसोस कर रह जाते थे। ऐसी आलोचना करते समय लेखक इस बात का ध्यान अवश्य रखता था कि कहीं हमारे दलवाले इससे असंतुष्ट तो नहीं हो जायँगे। यों उस समय, समालोचना प्रायः पक्षपातपूर्ण ही होती थी और समालोचना का लक्ष्य कृति न होकर व्यक्ति-विशेष रहता था। इस कथन की पुष्टि बाबू श्यामसुन्दरदास के एक पत्र से होती है जो उन्होंने सन् १८६६ में द्विवेदी जी को लिखा था। द्विवेदीजी ने एक यथार्थ समालोचना सभा के द्वारा प्रकाशित कराने के लिए भेजी थी। उसी के उत्तर में मंत्री की हैसियत से बाबूजी ने पत्र लिखा था।

काशी, २६-४-१८६६

“पूज्यवर,

हमारी सभा और विशेष कर हमारे समाज की अवस्था विचित्र है। ये ही बड़े भाग्य हैं कि सभा अद्य तक चली जाती है। द्वेष और द्रोह सब स्थानों में नाश का मूल कारण हुआ। उसकी हमारे यहाँ न्यूनता नहीं है—लोगों को प्रसन्न रखना बड़ा कठिन है—अप्रसन्न करने में विलम्ब नहीं लगता—समालोचनाओं के यथार्थ रूप में करने से हम किसी को भी सन्तुष्ट न कर सकेंगे (यह वाक्य गलत

गुण, रूपक आदि की छानबीन—की ओर, पहले से ही, ध्यान दिया जा रहा था। भारतेंदु हरिश्चन्द्र के समय में हम एक ओर बँगला-साहित्य से और दूसरी ओर अँगरेजी-साहित्य से परिचित हुए। इसके दो सुपरिणाम हुए। पहला बँगला, अँगरेजी, संस्कृत आदि अन्य भाषाओं के ग्रंथों का अनुवाद हिन्दी में किया जाने लगा। यह शौक इतना बढ़ता गया कि कालान्तर में अच्छे और बुरे सभी ग्रंथों का अनुवाद होने लगा। पर यह हमारी चीज नहीं थी और न हम इस पर अभिमान ही कर सकते थे। दूसरा सुपरिणाम यह हुआ कि साहित्य-सेवी मौलिक ग्रंथ लिखने की ओर प्रयत्नशील हुए।

विदेशी साहित्य के सम्पर्क में आने से सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि हम अपनी भाषा तथा अपने साहित्य की वास्तविक दशा से परिचित हो सके और यह भी जान सके कि हमारे लिए किस प्रकार का साहित्य उपयोगी होगा। यों दर-बारी समालोचना-पद्धति में उपयोगितावाद की पुट भी दिखाई देने लगी। बीसवीं शताब्दी के आरंभ में होनेवाली साहित्य और समालोचना की पद्धति का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

प्रवृत्ति, उद्देश्य और आदर्श

इसके कुछ वर्ष पहले ही हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में द्विवेदीजी का प्रादुर्भाव हो चुका था। आरम्भ से उनकी प्रधान साहित्यिक प्रवृत्ति आलोचनात्मक थी। सम्पादन-कार्य ग्रहण करने के पूर्व ही उन्होंने 'छत्तीसगढ़ मित्र' तथा अन्यान्य पत्र-पत्रिकाओं में कतिपय पुस्तकों की आलोचना की थी। पाठक जी के कई काव्यों की भी वे मार्मिक और विस्तृत समालोचना कर चुके थे। उनके इन कार्यों की आलोचना करने के पहले यहाँ हम उनकी प्रवृत्ति

गुण, रूपक आदि की छानबीन—की ओर, पहले से ही, ध्यान दिया जा रहा था। भारतेंदु हरिश्चन्द्र के समय में हम एक ओर बँगला-साहित्य से और दूसरी ओर अँगरेज़ी-साहित्य से परिचित हुए। इसके दो सुपरिणाम हुए। पहला बँगला, अँगरेज़ी, संस्कृत आदि अन्य भाषाओं के ग्रंथों का अनुवाद हिन्दी में किया जाने लगा। यह शौक इतना बढ़ता गया कि कालान्तर में अच्छे और बुरे सभी ग्रंथों का अनुवाद होने लगा। पर यह हमारी चीज़ नहीं थी और न हम इस पर अभिमान ही कर सकते थे। दूसरा सुपरिणाम यह हुआ कि साहित्य-सेवी मौलिक ग्रंथ लिखने की ओर प्रयत्नशील हुए।

विदेशी साहित्य के सम्पर्क में आने से सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि हम अपनी भाषा तथा अपने साहित्य की वास्तविक दशा से परिचित हो सके और यह भी जान सके कि हमारे लिए किस प्रकार का साहित्य उपयोगी होगा। यों दर-बारी समालोचना-पद्धति में उपयोगितावाद की पुट भी दिखाई देने लगी। बीसवीं शताब्दी के आरंभ में होनेवाली साहित्य और समालोचना की पद्धति का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

प्रवृत्ति, उद्देश्य और आदर्श

इसके कुछ वर्ष पहले ही हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में द्वियेदीजी का प्रादुर्भाव हो चुका था। आरम्भ से उनकी प्रधान साहित्यिक प्रवृत्ति आलोचनात्मक थी। सम्पादन-कार्य ग्रहण करने के पूर्व ही उन्होंने 'छत्तीसगढ़ मित्र' तथा अन्यान्य पत्र-पत्रिकाओं में कतिपय पुस्तकों की आलोचना की थी। पाठक जी के कई काव्यों की भी वे मार्मिक और विस्तृत समालोचना कर चुके थे। उनके इन कार्यों की आलोचना करने के पहले यहाँ हम उनकी प्रवृत्ति

लोगों की कृपा-दृष्टि संस्कृत की ओर भी गई और उन्होंने, देखा-देखी संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थों का अनुवाद करना आरम्भ कर दिया।

द्विवेदी जी इस अंतिम बात को सहन नहीं कर सके। उस समय संस्कृत का वे अध्ययन करते थे और जानते थे कि इस भाषा का साहित्य पाश्चात्य देशों के विद्वानों को लुभा चुका है; वे उसे बड़े आदर और सम्मान की दृष्टि से देखते थे। अतः उन्होंने सोचा कि यदि अनुवाद और टीका करने की योग्यता न रखनेवाले व्यक्तियों ने इस ओर कदम बढ़ाया और संस्कृत के ग्रन्थों का अनुवाद या उनकी टीका करके उनके वास्तविक महत्त्व और सौन्दर्य को नष्ट कर दिया, तो उन ग्रन्थकारों के ही नहीं, संस्कृत-भाषा और उसके साहित्य के प्रति भी हमारे हृदयों में निरादर-भाव पैदा हो जायगा और इसका प्रभाव हमारी भावी संतति पर बहुत बुरा पड़ेगा। उनका यह विचार ही संस्कृत के अनुवादों और टीकाओं की कटु-आलोचना का कारण हुआ। द्विवेदी जी का स्वयं ऐसे अनुवादकों या टीकाकारों से कोई द्वेष नहीं था जैसा कि उनके एक पत्र से स्पष्ट होता है। लाला-सीताराम ने संस्कृत के कुछ ग्रन्थों की टीका की। द्विवेदी जी ने उनकी तीव्र आलोचना की। इस पर लालाजी की ओर से किसी ने द्विवेदी जी को एक पत्र लिखा, जिसके उत्तर में द्विवेदी जी ने लिखा—

“I have no enmity with Lala Sita Ram, nor is there any misunderstanding between us, as you suppose. I have certainly made no attacks on him; you are no doubt, mistaken in this respect,

भावार्थ यह है कि द्विवेदी जी ने किसी द्वेष-भावना से

लोगों की कृपा-दृष्टि संस्कृत की ओर भी गई और उन्होंने, देखा-देखी संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थों का अनुवाद करना आरम्भ कर दिया।

द्विवेदी जी इस अंतिम बात को सहन नहीं कर सके। उस समय संस्कृत का वे अध्ययन करते थे और जानते थे कि इस भाषा का साहित्य पाश्चात्य देशों के विद्वानों को लुभा चुका है; वे उसे बड़े आदर और सम्मान की दृष्टि से देखते थे। अतः उन्होंने सोचा कि यदि अनुवाद और टीका करने की योग्यता न रखनेवाले व्यक्तियों ने इस ओर कदम बढ़ाया और संस्कृत के ग्रन्थों का अनुवाद या उनकी टीका करके उनके वास्तविक महत्त्व और सौन्दर्य को नष्ट कर दिया, तो उन ग्रन्थकारों के ही नहीं, संस्कृत-भाषा और उसके साहित्य के प्रति भी हमारे हृदयों में निरादर-भाव पैदा हो जायगा और इसका प्रभाव हमारी भावी संतति पर बहुत बुरा पड़ेगा। उनका यह विचार ही संस्कृत के अनुवादों और टीकाओं की कटु-आलोचना का कारण हुआ। द्विवेदी जी का स्वयं ऐसे अनुवादकों या टीकाकारों से कोई द्वेष नहीं था जैसा कि उनके एक पत्र से स्पष्ट होता है। लाला-सीताराम ने संस्कृत के कुछ ग्रन्थों की टीका की। द्विवेदी जी ने उनकी तीव्र आलोचना की। इस पर लालाजी की ओर से किसी ने द्विवेदी जी को एक पत्र लिखा, जिसके उत्तर में द्विवेदी जी ने लिखा—

“I have no enmity with Lala Sita Ram, nor is there any misunderstanding between us, as you suppose. I have certainly made no attacks on him; you are no doubt, mistaken in this respect,

भावार्थ यह है कि द्विवेदी जी ने किसी द्वेष-भावना से

द्विवेदी जी का यह आदर्श अन्त तक बना रहा। समयानुसार वे और भी आगे बढ़ गये। जब लोगों ने बहुत धाँधली मचाई तब उन्होंने 'समालोचना का सत्कार'-शीर्षक एक लेख दिसम्बर १९१७ की 'सरस्वती' में प्रकाशित किया। यह लेख कुछ धाँधली मचानेवालों की खबर लेने के लिए लिखा गया था। बाबू कालिदास जो कपूर ने उसके प्रतिवाद में 'समालोचना'-शीर्षक एक लेख लिखा और 'सरस्वती' में ही प्रकाशित होने के लिए भेजा। इस लेख की स्वीकृति लिखते हुए द्विवेदी जी ने ३१-१-१९१८ को जो पत्र लिखा उसका कुछ अंश यों है—

‘मेरा लेख कुछ खास आदमियों को लक्ष्य करके लिखा गया है। उनकी धूर्तता का हाल आपको मालूम होता तो शायद आप अपना लेख लिखने ही नहीं। खैर, मतभेद बुरा नहीं।’

इतना ही नहीं, जो पुस्तकें द्विवेदी जी के पास समालोचनार्थ नहीं भी आती थीं और उनमें कोई दोष होता था तो वे स्वयं खरीदकर उन्हें पढ़ते थे और जनता के सामने उनके दोष स्पष्ट भाषा में रख देते थे। इन पुस्तकों की सूचना द्विवेदी जी को अपने मित्रों से मिल जाया करती थी।

खैर, उक्त उद्देश्य और विचार पर दृढ़ रहना बड़े साहस का कार्य था; कम से कम तत्कालीन साहित्यिक वातावरण में रहकर तीव्र और सत्य आलोचना करना आसान न था। पर द्विवेदी जी अपने विचार पर डटे रहे। यहाँ हम एक लेख ऐसा उद्धृत करते हैं जिससे उनके समालोचना-सन्वन्धी आदर्श पर प्रकाश पड़ेगा। लेख कुछ बड़ा अवश्य है, पर उससे हम उस समय के साहित्यसेवियों के विचारों से भी परिचित हो सकेंगे और द्विवेदी जी ने उनको समझाकर राह पर लाने की जो चेष्टा की उससे भी। लेख यों है—

द्विवेदी जी का यह आदर्श अन्त तक बना रहा। समयानुसार वे और भी आगे बढ़ गये। जब लोगों ने बहुत धाँधली मचाई तब उन्होंने 'समालोचना का सत्कार'-शीर्षक एक लेख दिसम्बर १९१७ की 'सरस्वती' में प्रकाशित किया। यह लेख कुछ धाँधली मचानेवालों की खबर लेने के लिए लिखा गया था। बाबू कालिदास जो कपूर ने उसके प्रतिवाद में 'समालोचना'-शीर्षक एक लेख लिखा और 'सरस्वती' में ही प्रकाशित होने के लिए भेजा। इस लेख की स्वीकृति लिखते हुए द्विवेदी जी ने ३१-१-१९१८ को जो पत्र लिखा उसका कुछ अंश यों है—

‘मेरा लेख कुछ ख़ास आदमियों को लक्ष्य करके लिखा गया है। उनकी धूर्तता का हाल आपको मालूम होता तो शायद आप अपना लेख लिखने ही नहीं। खैर, मतभेद बुरा नहीं।’

इतना ही नहीं, जो पुस्तकें द्विवेदी जी के पास समालोचनार्थ नहीं भी आती थीं और उनमें कोई दोष होता था तो वे स्वयं खरोदकर उन्हें पढ़ते थे और जनता के सामने उनके दोष स्पष्ट भाषा में रख देते थे। इन पुस्तकों की सूचना द्विवेदी जी को अपने मित्रों से मिल जाया करती थी।

खैर, उक्त उद्देश्य और विचार पर दृढ़ रहना बड़े साहस का कार्य था; कम से कम तत्कालीन साहित्यिक वातावरण में रहकर तीव्र और सत्य आलोचना करना आसान न था। पर द्विवेदी जी अपने विचार पर डटे रहे। यहाँ हम एक लेख ऐसा उद्धृत करते हैं जिससे उनके 'समालोचना-सन्बन्धी आदर्श' पर प्रकाश पड़ेगा। लेख कुछ बड़ा अवश्य है, पर उससे हम उस समय के साहित्यसेवियों के विचारों से भी परिचित हो सकेंगे और द्विवेदी जी ने उनको समझाकर राह पर लाने की जो चेष्टा की उससे भी। लेख यों है—

को भी, हिन्दी को छोड़कर, अन्य भाषाओं के साहित्य-सेवियों की अदालत से सजा मिलती है।”

—सरस्वती अप्रैल १९११)

द्विवेदीजी ने ‘कालिदास की निरंकुशता’—शीर्षक अपनी प्रसिद्ध लेखमाला में, पुराने समालोचकों के कथन के आधार पर, कालिदास की कृतियों में कुछ दोष दिखाये थे। उनके समकालीन संस्कृत के विद्वानों ने इसका बड़ा विरोध किया। उत्तर में द्विवेदीजी ने ‘प्राचीन कवियों के काव्यों में दोषोद्भावना’—शीर्षक एक निबन्ध लिखा। यह अप्रैल, मई और जून (१९११) की ‘सरस्वती’ में प्रकाशित हुआ था। इसी लेख की भूमिका के तौर पर उक्त वाक्य लिखे गये हैं। रेखांकित स्थलों की व्याख्या करने का तो यहाँ स्थान नहीं है; हाँ उन पर गौर करने से परिस्थिति और उत्तर हमारी समझ में आ सकता है। अस्तु।

द्विवेदीजी ने अपने इसी विचार को एक जगह स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार लिखा है—

“मिश्रता के कारण किसी पुस्तक की अनुचित प्रशंसा करना विज्ञापन देने के सिवा और कुछ नहीं। ईर्ष्या-द्वेष अथवा शत्रुभाव के वशीभूत होकर किसी की कृति में अमूलक दोषोद्भावना करना उससे भी बुरा काम है।”

—सरस्वती

यह तो हुई समालोचना-संबंधी आदर्श की बात। अब लेखक के आदर्श पर, जैसा उन्होंने समझा था या वे चाहते थे, गौर कीजिए।

पुस्तक के तीन मुख्य अंग होते हैं—विषय, भाषा और शैली। द्विवेदीजी ने अपने उद्देश्य और आदर्श के अनुसार इन तीनों

को भी, हिन्दी को छोड़कर, अन्य भाषाओं के साहित्य-सेवियों की अदालत से सज़ा मिलती है।”

— सरस्वती अग्रेल १९११)

द्विवेदीजी ने ‘कालिदास की निरंकुशता’—शीर्षक अपनी प्रसिद्ध लेखमाला में, पुराने समालोचकों के कथन के आधार पर, कालिदास की कृतियों में कुछ दोष दिखाये थे। उनके समकालीन संस्कृत के विद्वानों ने इसका बड़ा विरोध किया। उत्तर में द्विवेदीजी ने ‘प्राचीन कवियों के काव्यों में दोषोद्भावना’—शीर्षक एक निबन्ध लिखा। यह अग्रेल, मई और जून (१९११) की ‘सरस्वती’ में प्रकाशित हुआ था। इसी लेख की भूमिका के तौर पर उक्त वाक्य लिखे गये हैं। रेखांकित स्थलों की व्याख्या करने का तो यहाँ स्थान नहीं है; हाँ उन पर गौर करने से परिस्थिति और उत्तर हमारी समझ में आ सकता है। अस्तु।

द्विवेदीजी ने अपने इसी विचार को एक जगह स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार लिखा है—

“मित्रता के कारण किसी पुस्तक की अनुचित प्रशंसा करना विज्ञापन देने के सिवा और कुछ नहीं। ईर्ष्या-द्वेष अथवा शत्रुभाव के वशीभूत होकर किसी की कृति में अमूलक दोषोद्भावना करना उससे भी बुरा काम है।”

—सरस्वती

यह तो हुई समालोचना-संबंधी आदर्श की बात। अब लेखक के आदर्श पर, जैसा उन्होंने समझा था या वे चाहते थे, गौर कीजिए।

पुस्तक के तीन मुख्य अंग होते हैं—विषय, भाषा और शैली। द्विवेदीजी ने अपने उद्देश्य और आदर्श के अनुसार इन तीनों

प्रकाश पड़ता है। भाषा वे सरल चाहते थे, शुद्ध भी। आरम्भ में प्रायः दोनों ही बातें हिंदी में नहीं थीं। उन्हें इससे दुःख होता था। फलतः पण्डिताऊ भाषा लिखनेवालों पर कटाक्ष करने में वे कोई कोरकसर न करते थे और व्याकरण आदि के दोष दिखाने में भी बड़ी तत्परता से काम लेते थे। स्थूल रूप से इन्हीं तीन बातों की परिचयात्मक आलोचना वे किया करते थे।

समालोचना

ऊपर कहा जा चुका है कि आरंभ से ही द्विवेदीजी की प्रकृति आलोचनात्मक रही है। स्वभावतः अपने साहित्यिक जीवन-काल में उन्होंने सैकड़ों पुस्तकों की अपने ढंग से आलोचना की। इन आलोचनाओं को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) संस्कृत के ग्रंथों की आलोचना

संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रंथों की टीकायें शताब्दियों पहले से होती आ रही थीं। राजा लक्ष्मणसिंह के समय से विद्वानों का ध्यान प्रसिद्ध ग्रंथों का अनुवाद करने की ओर भी गया। फलतः कुछ विद्वानों ने कालिदास के कुछ ग्रंथों का हिंदी में अनुवाद किया। द्विवेदी जी को इन अनुवादों में मूल-ग्रंथों के भाव और चित्र न मिले। अनुवाद करने की प्रथा कुछ समय पहले ही हिंदी में आई थी। अतः अनुवादों में दोष रह जाना, किसी सीमा तक, स्वाभाविक ही था। द्विवेदी जी ने इन्हीं दोषों को ढूँढ़ना शुरू किया। संवत् १६५४ (सन् १८६७) में उन्होंने 'श्रीवेंकटेश्वर-समाचार पत्र' तथा कालाकाँकर के 'हिंदोस्थान' में लाला सीताराम वी० ए०

प्रकाश पड़ता है। भाषा वे सरल चाहते थे, शुद्ध भी। आरम्भ में प्रायः दोनों ही बातें हिंदी में नहीं थीं। उन्हें इससे दुःख होता था। फलतः पण्डिताऊ भाषा लिखनेवालों पर कटाक्ष करने में वे कोई कौरकसर न करते थे और व्याकरण आदि के दोष दिखाने में भी बड़ी तत्परता से काम लेते थे। स्थूल रूप से इन्हीं तीन बातों की परिचयात्मक आलोचना वे किया करते थे।

समालोचना

ऊपर कहा जा चुका है कि आरंभ से ही द्विवेदीजी की प्रकृति आलोचनात्मक रही है। स्वभावतः अपने साहित्यिक जीवन-काल में उन्होंने सैकड़ों पुस्तकों की अपने ढंग से आलोचना की। इन आलोचनाओं को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) संस्कृत के ग्रंथों की आलोचना

संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रंथों की टीकायें शताब्दियों पहले से होती आ रही थीं। राजा लक्ष्मणसिंह के समय से विद्वानों का ध्यान प्रसिद्ध ग्रंथों का अनुवाद करने की ओर भी गया। फलतः कुछ विद्वानों ने कालिदास के कुछ ग्रंथों का हिंदी में अनुवाद किया। द्विवेदी जी को इन अनुवादों में मूल-ग्रंथों के भाव और चित्र न मिले। अनुवाद करने की प्रथा कुछ समय पहले ही हिंदी में आई थी। अतः अनुवादों में दोष रह जाना, किसी सीमा तक, स्वाभाविक ही था। द्विवेदी जी ने इन्हीं दोषों को ढूँढ़ना शुरू किया। संवत् १९५४ (सन् १८९७) में उन्होंने 'श्रीवेंकटेश्वर-समाचार पत्र' तथा कालाकाँकर के 'हिंदोस्थान' में लाला सीताराम वी० ए०

‘स्तुति-ग्रंथ’ तक कहने में संकोच नहीं करते । तत्पश्चात् ‘कालिदास की निरंकुशता’ के दर्शन हुए । इस आलोचनात्मक निबन्ध में कालिदास की कृतियों में कतिपय दोष—उपमा की हीनता-उद्वेगजनक उक्ति, अनौचित्य-दर्शक उक्ति, व्याकरण-संबंधी अनौचित्य, नाम-संबंधी अनौचित्य, इतिहास-संबंधी अनौचित्य, यति-भंग, पुनरुक्ति, अधिकपदत्व, श्रुति-कटुत्व, क्रमभंगता आदि के दोष दिखाये हैं । यद्यपि पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने ‘मनसाराम’ के नाम से इस निबन्ध के विरोध में ‘निरंकुशता-निदर्शन’ शीर्षक एक लम्बा-चौड़ा लेख ‘भारतमित्र’ में लिखा और बाद में अनेक प्रसिद्ध विद्वानों की टिप्पणियों के साथ उसे पुस्तकाकार प्रकाशित भी कराया, तथापि समस्त हिंदी-भाषा-मर्मज्ञों पर द्विवेदीजी की धाक बैठ गई; सवने उनका लोहा मान लिया ।

यद्यपि ‘नैषध-चरित-चर्चा’ के लिए श्री राधाकृष्णदास ने नागरी-प्रचारिणी सभा से ४ जनवरी सन् १८६६ में लिखा था कि “यह लेख अद्वितीय हुआ है ऐसे (ऐ एक लाइन में है और से दूसरी में) ही लेख भाषा का गौरव बढ़ा सकते हैं,” तथापि द्विवेदीजी के इन समालोचनात्मक निबन्धों में जिस आलोचना-पद्धति का अनुसरण किया गया है, आधुनिक दृष्टि से वह विशेष महत्त्व की न भी हो तो भी हिन्दी-साहित्य-सेवियों के लिए उस समय वही बहुत थी । लेखक या कवि के हृदय में बैठ कर पात्र, परिस्थिति और वस्तु आदि की विवेचना करना तो दूर, अपने हृदय के भावों को आलोचना का रूप देकर साहस और निर्भयतापूर्वक व्यक्त कर देने की यह पद्धति भी, हिन्दी के लिए उस समय नई ही थी । समालोचक के लिए आलोच्य विषय का पूर्ण पंडित होना तो आवश्यक है ही, पर स्वभाव व प्रकृति की निर्भयता और विभिन्न प्रकार के प्रलोभनों को ठुकराकर

‘स्तुति-ग्रंथ’ तक कहने में संकोचनहीं करते । तत्पश्चात् ‘कालिदास की निरंकुशता’ के दर्शन हुए । इस आलोचनात्मक निबन्ध में कालिदास की कृतियों में कतिपय दोष—उपमा की हीनता-उद्वेगजनक उक्ति, अनौचित्य-दर्शक उक्ति, व्याकरण-संबंधी अनौचित्य, नाम-संबंधी अनौचित्य, इतिहास-संबंधी अनौचित्य, यति-भंग, पुनरुक्ति, अधिकपदत्व, श्रुति-कटुत्व, क्रमभंगता आदि के दोष दिखाये हैं । यद्यपि पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने ‘मनसाराम’ के नाम से इस निबन्ध के विरोध में ‘निरंकुशता-निदर्शन’ शीर्षक एक लम्बा-चौड़ा लेख ‘भारतमित्र’ में लिखा और बाद में अनेक प्रसिद्ध विद्वानों की टिप्पणियों के साथ उसे पुस्तकाकार प्रकाशित भी कराया, तथापि समस्त हिंदी-भाषा-मर्मज्ञों पर द्विवेदीजी की धाक बैठ गई; सबने उनका लोहा मान लिया ।

यद्यपि ‘नैषध-चरित-चर्चा’ के लिए श्री राधाकृष्णदास ने नागरी-प्रचारिणी सभा से ४ जनवरी सन् १८६६ में लिखा था कि “यह लेख अद्वितीय हुआ है ऐसे (ऐ एक लाइन में है और से दूसरी में) ही लेख भाषा का गौरव बढ़ा सकते हैं,” तथापि द्विवेदीजी के इन समालोचनात्मक निबन्धों में जिस आलोचना-पद्धति का अनुसरण किया गया है, आधुनिक दृष्टि से वह विशेष महत्त्व की न भी हो तो भी हिन्दी-साहित्य-सेवियों के लिए उस समय वही बहुत थी । लेखक या कवि के हृदय में बैठ कर पात्र, परिस्थिति और वस्तु आदि की विवेचना करना तो दूर, अपने हृदय के भावों को आलोचना का रूप देकर साहस और निर्भयतापूर्वक व्यक्त कर देने की यह पद्धति भी, हिन्दी के लिए उस समय नई ही थी । समालोचक के लिए आलोच्य विषय का पूर्ण पंडित होना तो आवश्यक है ही, पर स्वभाव व प्रकृति की निर्भयता और विभिन्न प्रकार के प्रलोभनों को ठुकराकर

वात जो उस समय वे देखा करते थे, विषय-संबंधी थी। यदि लेखक ने किसी नये विषय पर प्रकाश डाला है और भारतीयता और प्राचीन संस्कृति के भावों का आदर किया है तो द्विवेदीजी, ऐसी पुस्तक की प्रायः प्रशंसा किया करते थे। यदि लेखक अपनी मातृ-भाषा, आर्य-संस्कृति-विषयक विचारों का विरोध करता था तो द्विवेदीजी उसे बुरी तरह फटकारते थे।

दूसरी ओर हिंदी-लेखक भाषा और शैली के विषय में विलकुल असावधान रहते थे। व्याकरण की दृष्टि से शुद्धता, शैली की दृष्टि से स्थिरता और विचारों की संवद्धता उनकी पुस्तकों में नहीं दिखाई देती थी। द्विवेदीजी ने इस बात को समझा और समालोचनार्थ आई हुई पुस्तकों में तत्संबंधी त्रुटियों को ढूँढ़-ढूँढ़कर निकालना शुरू किया। जिस लेखक ने इस विषय में धाँधली की उसकी उन्होंने बुरी तरह से खबर ली। फलतः नये विषयों पर पुस्तकें लिखी जाने लगीं और लेखक भाषा की शुद्धता और विचारों की स्पष्टता पर समुचित ध्यान देने लगे।

यहाँ एक बात स्मरण रखनी चाहिए। द्विवेदीजी हिंदी के पक्षपाती थे और प्राचीन संस्कृत के भक्त भी। पर हिंदी का मस्तक जिन कवियों ने ऊँचा किया है, जिन कवियों को हम गर्व और गौरव की दृष्टि से देखते हैं, उन तुलसीदास, सूरदास आदि के काव्यों की उन्होंने आलोचना नहीं की। इसका प्रधान कारण यही जान पड़ता है कि आरंभ में वे संस्कृत-कवियों का अध्ययन करते रहे और जब 'सरस्वती' के संपादक हो गये तब उन्हें इतना अवकाश ही नहीं मिला कि हिंदी के कवियों की कृतियों का समुचित रूप से अध्ययन करके विस्तृत आलोचना करते।

बात जो उस समय वे देखा करते थे, विषय-संबंधी थी। यदि लेखक ने किसी नये विषय पर प्रकाश डाला है और भारतीयता और प्राचीन संस्कृति के भावों का आदर किया है तो द्विवेदीजी, ऐसी पुस्तक की प्रायः प्रशंसा किया करते थे। यदि लेखक अपनी मातृ-भाषा, आर्य-संस्कृति-विषयक विचारों का विरोध करता था तो द्विवेदीजी उसे बुरी तरह फटकारते थे।

दूसरी ओर हिंदी-लेखक भाषा और शैली के विषय में बिलकुल असावधान रहते थे। व्याकरण की दृष्टि से शुद्धता, शैली की दृष्टि से स्थिरता और विचारों की संबद्धता उनकी पुस्तकों में नहीं दिखाई देती थी। द्विवेदीजी ने इस बात को समझा और समालोचनार्थ आई हुई पुस्तकों में तत्संबंधी त्रुटियों को ढूँढ़-ढूँढ़कर निकालना शुरू किया। जिस लेखक ने इस विषय में धाँधली की उसकी उन्होंने बुरी तरह से खबर ली। फलतः नये विषयों पर पुस्तकें लिखी जाने लगीं और लेखक भाषा की शुद्धता और विचारों की स्पष्टता पर समुचित ध्यान देने लगे।

यहाँ एक बात स्मरण रखनी चाहिए। द्विवेदीजी हिंदी के पक्षपाती थे और प्राचीन संस्कृत के भक्त भी। पर हिंदी का मस्तक जिन कवियों ने ऊँचा किया है, जिन कवियों को हम गर्व और गौरव की दृष्टि से देखते हैं, उन तुलसीदास, सूरदास आदि के काव्यों की उन्होंने आलोचना नहीं की। इसका प्रधान कारण यही जान पड़ता है कि आरंभ में वे संस्कृत-कवियों का अध्ययन करते रहे और जब 'सरस्वती' के संपादक हो गये तब उन्हें इतना अवकाश ही नहीं मिला कि हिंदी के कवियों की कृतियों का समुचित रूप से अध्ययन करके विस्तृत आलोचना करते।

किंचित् व्यंग्य की पुट दे देने से उनकी इस शैली में विशेष रोचकता आगई। इस शैली का एक उदाहरण 'नैपथ-चरित-चर्चा और सुदर्शन' शीर्षक लेख है। 'सरस्वती' में शायद यही उनका सबसे पहला लेख था। यह १९०१ के आक्टोबर मास की सरस्वती (भाग १, संख्या १०) में प्रकाशित हुआ था। इसमें द्विवेदी जी ने सुदर्शन-संपादक की 'नैपथ-चरितचर्चा' की आलोचना का उत्तर दिया है। भाषा में प्रौढ़ता है, विचारों में दृढ़ता और तार्किक व्यंग्य—

“श्रीहर्ष ने क्या हमारा घोड़ा खोला था जो हम उस पर अप्रसन्न होते।”

इस शैली का दूसरा रूप 'कालिदास की निरंकुशता' के विरुद्ध लिखी गई लेखमाला के उत्तर में लिखा हुआ 'प्राचीन कवियों के काव्यों की दोषोद्भावना'-शीर्षक लेख है। यह १९११ के अप्रैल, मई और जून मास की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ था। इस लेख में द्विवेदी जी ने विभिन्न भाषा-मर्मज्ञों के दिखाये हुए संस्कृत-कवियों के दोषों को उद्धृत करके तर्क-द्वारा यह प्रमाणित करने की चेष्टा की थी कि प्राचीन कवियों के दोष दिखाना कोई पाप नहीं है, जैसा उनके कुछ विरोधी समझते थे। इस शैली का तीसरा उदाहरण 'हिंदी-भाषा की उत्पत्ति'-शीर्षक निबंध है।

(२) दूसरे प्रकार की शैली व्यंग्यपूर्ण है। यों तो द्विवेदी जी व्यंग्य के वादशाह ही थे; उनके प्रायः प्रत्येक नोट में कुछ न कुछ व्यंग्य अवश्य मिलेगा। यहाँ हम नीचे उनकी इस प्रकार की शैली के कुछ नमूने देते हैं—

‘भाषापद्यव्याकरण’ की आलोचना करते हुए वे लिखते हैं—

किंचित् व्यंग्य की पुट दे देने से उनकी इस शैली में विशेष रोचकता आ गई। इस शैली का एक उदाहरण 'नैपथ-चरित-चर्चा और सुदर्शन' शीर्षक लेख है। 'सरस्वती' में शायद यही उनका सबसे पहला लेख था। यह १९०१ के अक्टोबर मास की सरस्वती (भाग १, संख्या १०) में प्रकाशित हुआ था। इसमें द्विवेदी जी ने सुदर्शन-संपादक की 'नैपथ-चरितचर्चा' की आलोचना का उत्तर दिया है। भाषा में प्रौढ़ता है, विचारों में दृढ़ता और तार्किक व्यंग्य—

“श्रीहर्ष ने क्या हमारा घोड़ा खोला था जो हम उस पर अप्रसन्न होते।”

इस शैली का दूसरा रूप 'कालिदास की निरंकुशता' के विरुद्ध लिखी गई लेखमाला के उत्तर में लिखा हुआ 'प्राचीन कवियों के काव्यों की दोषोद्भावना'-शीर्षक लेख है। यह १९११ के अप्रैल, मई और जून मास की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ था। इस लेख में द्विवेदी जी ने विभिन्न भाषा-मर्मज्ञों के दिखाये हुए संस्कृत-कवियों के दोषों को उद्धृत करके तर्क-द्वारा यह प्रमाणित करने की चेष्टा की थी कि प्राचीन कवियों के दोष दिखाना कोई पाप नहीं है, जैसा उनके कुछ विरोधी समझते थे। इस शैली का तीसरा उदाहरण 'हिंदी-भाषा की उत्पत्ति'-शीर्षक निबंध है।

(२) दूसरे प्रकार की शैली व्यंग्यपूर्ण है। यों तो द्विवेदी जी व्यंग्य के वादशाह ही थे; उनके प्रायः प्रत्येक नोट में कुछ न कुछ व्यंग्य अवश्य मिलेगा। यहाँ हम नीचे उनकी इस प्रकार की शैली के कुछ नमूने देते हैं—

‘भाषापत्रव्याकरण’ की आलोचना करते हुए वे लिखते हैं—

“आर्य-समाज की कृपा से सनातनधर्मियों में भी अनेक संरक्षक उत्पन्न हो गये हैं। शास्त्रार्थ करना, लेखन देना और जरूरत पड़ने पर कीचड़ उछालना भी ये लोग खूब सीख गये हैं। कानपुर जिले के × × ग्राम में × × × राम शास्त्री नाम के एक महोपदेशक हैं। ‘आर्य-समाजियों के महामोह-निवारणार्थ ईश्वर अर्थ और शास्त्रविचार में रत हैं। और सबसे बड़ी बात यह कि अपने प्रतिपक्षी समाजियों की तरह आप भी बड़े मधुरभाषी हैं। ‘साइंस’ के भी आप उत्कट ज्ञाता मालूम होते हैं, क्योंकि आपने लिखा है कि—“चन्द्रमा बिलकुल बूढ़ा हो गया है। वह ज्यादा से ज्यादा पाँच सौ वर्ष तक काम दे सकेगा।” आपकी राय है—“चेतन्यता (!) से ईश्वर-सिद्धि पुष्ट है, अकाव्य है, अतएव मान्य है”। ऐसे विद्वान् और ऐसे संस्कृतज्ञ के तर्कों और सिद्धान्तों पर हम जैसे अल्पज्ञ क्या कह सकते हैं ! शास्त्री जी ने पहली पुस्तक के ८० पृष्ठ लिखकर, प्रस्तुत विषय का उपसंहार किये बिना ही, उसकी समाप्ति कर दी है, और टाइटिल पेज लगाकर उसकी अलग पुस्तक बना डाली है। दूसरी पुस्तक का आरम्भ बिना कुछ कहे सुने या भूमिका लिखे फिर ८१ वें पृष्ठ से किया है। इसका कारण समझ में नहीं आया। आज-कल तो इस तरह पुस्तकें लिखी नहीं जातीं। वेदों के ज़माने में लिखी जाती रही हों तो मालूम नहीं !”

× × × ×

पर व्यक्तिगत कटाक्ष करते समय वे व्यंजना से अधिक सहायता लेते हैं। स्पष्ट है कि इस शैली से प्रहार करने में वितण्डा बढ़ने की कम संभावना रहती है और चोट भी ठीक निशाने पर बैठती है। इस ढंग के नमूने देखिए—

“खोज की त्रैवार्षिक रिपोर्ट—जिस खोज की यह रिपोर्ट है, उसके सुपरिंटेंडेंट थे श्रीयुत पंडित श्यामविहारी मिश्र, एम० ए० ३

“आर्य-समाज की कृपा से सनातनधर्मियों में भी अनेक संरक्षक उत्पन्न हो गये हैं। शास्त्रार्थ करना, लेखन देना और ज़रूरत पड़ने पर कीचड़ उछालना भी ये लोग खूब सीख गये हैं। कानपुर-ज़िले के × × ग्राम में × × × राम शास्त्री नाम के एक महोपदेशक हैं। ‘आर्य-समाजियों के महामोह-निवारणार्थ ईश्वर अर्थ और शास्त्रविचार में रत हैं। और सबसे बड़ी बात यह कि अपने प्रतिपक्षी समाजियों की तरह आप भी बड़े मधुरभाषी हैं। ‘साइंस’ के भी आप उत्कृष्ट ज्ञाता मालूम होते हैं, क्योंकि आपने लिखा है कि—“चन्द्रमा बिलकुल बूढ़ा हो गया है। वह ज़्यादा से ज़्यादा पाँच सौ वर्ष तक काम दे सकेगा।” आपकी राय है—“चैतन्यता (!) से ईश्वर-सिद्धि पुष्ट है, अकाव्य है, अतएव मान्य है”। ऐसे विद्वान् और ऐसे संस्कृतज्ञ के तर्कों और सिद्धान्तों पर हम जैसे अल्पज्ञ क्या कह सकते हैं ! शास्त्री जी ने पहली पुस्तक के ८० पृष्ठ लिखकर, प्रस्तुत विषय का उपसंहार किये बिना ही, उसकी समाप्ति कर दी है, और टाइपिंग पेज लगाकर उसकी अलग पुस्तक बना डाली है। दूसरी पुस्तक का आरम्भ बिना कुछ कहे सुने या भूमिका लिखे फिर ८१ वें पृष्ठ से किया है। इसका कारण समझ में नहीं आया। आज-कल तो इस तरह पुस्तकें लिखी नहीं जातीं। वेदों के ज़माने में लिखी जाती रही हों तो मालूम नहीं !”

× × × ×

पर व्यक्तिगत कटाक्ष करते समय वे व्यंजना से अधिक सहायता लेते हैं। स्पष्ट है कि इस शैली से प्रहार करने में वितण्डा बढ़ने की कम संभावना रहती है और चोट भी ठीक निशाने पर बैठती है। इस ढंग के नमूने देखिए—

“खोज की त्रैवार्षिक रिपोर्ट—जिस खोज की यह रिपोर्ट है, उसके सुपरिंटेंडेंट थे श्रीयुक्त पंडित श्यामविहारी मिश्र, एम० ए०।

“सरकार की हितैषणा और दान-दयालुता की एक बात लिखना हम भूल ही गये । उसने पागलों के मनोरंजन के लिए भी बहुत से प्रबंध कर रखे हैं । पागलों के लिए पचीसी, शतरंज और ताश खेलने के लिए वक्त मुक़र्रर है । वे लोग फुटबाल और टेनिस भी खेलते हैं । हर रविवार को ढोलक बजती है, मँजीरे की भी किट किट होती है और साथ ही दिल लुभानेवाला गाना भी होता है । जनावेआली, रंडियाँ भी कभी-कभी पागलखानों में छमाछम करती हुई पधराई जाती हैं । वे नाचते समय अपने हावभाव दिखाकर ओर गानर सुनाकर हर कला के पागलों के दिमाग को ठिकाने लाने की चेष्टा करते हैं । पर एक बात की कमी है । पागलखानों में कुछ ग्रामोफोन भी रखने चाहिए । उन पर बजाने के लिए और रेकार्डों के साथ एक एक रिकार्ड पीछे से बजाने के लिए, यह भी रहना चाहिए—

राज करें अंगरेज सदा ही ।”

(सरस्वती, अक्टोबर १९२७)

किसी विलायती डाक्टर ने आँसुओं की कीटाणु-नाशक शक्ति का पता लगाकर अनेक रोगों पर उसके सफल प्रयोगों का अनुभव प्राप्त किया । विलायती पत्रों ने भी उस आविष्कार का खूब विज्ञापन किया । सामयिक बात थी और अनोखी भी थी, अतः द्विवेदी जो भी उसकी उपयोगिता की प्रशंसा कैसे न करते । पर उनकी प्रशंसा का ढङ्ग बड़ा चुटीला था । तारीफ के सिलसिले में वे लिखते हैं—

“ओपधियों में काम आने के लिए अभी जैसे बहुत से आदमी अपना रक्त देते हैं, वैसे ही स्वकड़ कुमारियाँ और कामिनियाँ वहाँ आँसू देवा करेंगी । इससे उन्हें न कोई कष्ट होगा और न कोई हाचि ही होगी । सुबह उठीं और रोक आँसुओं से एक गिलास भर दिया ।

“सरकार की हितैषणा और दान-दयालुता की एक बात लिखना हम भूलें ही गये। उसने पागलों के मनोरंजन के लिए भी बहुत से प्रबंध कर रखे हैं। पागलों के लिए पचीसी, शतरंज और ताश खेलने के लिए वक्त मुकर्रर है। वे लोग फुटबाल और टेनिस भी खेलते हैं। हर रविवार को ढोलक बजती है, मँजीरे की भी किट किट होती है और साथ ही दिल लुभानेवाला गाना भी होता है। जनावेआली, रंडियाँ भी कभी-कभी पागलखानों में छमाछम करती हुई पधराई जाती हैं। वे नाचते समय अपने हावभाव दिखाकर और गाना सुनाकर हर कक्षा के पागलों के दिमाग को ठिकाने लाने की चेष्टा करती हैं। पर एक बात की कमी है। पागलखानों में कुछ ग्रामोफोन भी रहने चाहिए। उन पर बजाने के लिए और रेकार्डों के साथ एक एक रिकार्ड पीछे से बजाने के लिए, यह भी रहना चाहिए—

राज करें अँगरेज़ सदा ही।”

(सरस्वती, आक्टोबर १९२७)

किसी विलायती डाक्टर ने आँसुओं की कीटाणु-नाशक शक्ति का पता लगाकर अनेक रोगों पर उसके सफल प्रयोगों का अनुभव प्राप्त किया। विलायती पत्रों ने भी उस आविष्कार का खूब विज्ञापन किया। सामयिक बात थी और अनाखी भी थी, अतः द्विवेदी जो भी उसको उपयोगिता की प्रशंसा कैसे न करते। पर उनकी प्रशंसा का ढङ्ग बड़ा चुटीला था। तारीफ़ के सिलसिले में वे लिखते हैं—

“ओपधियों में काम आने के लिए अभी जैसे बहुत से आदमी अपना रक्त बेचते हैं, वैसे ही रुक्कड़ कुमारियाँ और कामिनियाँ वहाँ आँसू बेचा करेंगी। इससे उन्हें न कोई कष्ट होगा और न कोई हानि ही होगी। सुबह उठीं और रोक आँसुओं से एक गिलास भर दिया।

The language of the criticism as that of a mimic.

कहकर कटाक्ष किया गया था। द्विवेदी जी ने इसका उत्तर देते हुए लिखा था—

If such is really the case the public have no reason to complain; on the other hand, they should thank me for belending instructions with amusements.

द्विवेदी जी की व्यंग्य-शैली का यही प्रधान उद्देश्य था। समालोचना करते समय किसी लेखक या कवि की हँसी, उसका अपमान करने के लिए वे नहीं करते थे। उनका उद्देश्य केवल यह था कि लेखक सावधान हो जायँ और कोई ऐसा काम न करें जो आचार्यत्व या पाण्डित्य के अनुरूप न हो।

(३) उनकी शैली का तीसरा रूप ओजप्रधान है। लेखकों ने जब-जब भारतीयता की भावना का विरोध किया या अनुचित प्रशंसा अथवा दोषारोपण करने की चेष्टा की, तब-तब द्विवेदी जी ने उनको बुरी तरह फटकारा। इस प्रकार के कथन में ओज का होना स्वाभाविक भी है। यहाँ हम उनकी इस शैली का एक उदाहरण देते हैं। एक महाशय ने 'अँगरेजी राज्य के सुख'-शीर्षक एक पुस्तक लिखी। उसकी भूमिका का कुछ अंश यों है—

Behind and below the ostensible manifestations of loyalty and devotion, there runs an under-current of discontent and unrest brought

The language of the criticism as that of a mimic.

कहकर कटाक्ष किया गया था। द्विवेदी जी ने इसका उत्तर देते हुए लिखा था—

If such is really the case the public have no reason to complain; on the other hand, they should thank me for belending instructions with amusements.

द्विवेदी जी की व्यंग्य-शैली का यही प्रधान उद्देश्य था। समालोचना करते समय किसी लेखक या कवि की हँसी, उसका अपमान करने के लिए वे नहीं करते थे। उनका उद्देश्य केवल यह था कि लेखक सावधान हो जायँ और कोई ऐसा काम न करें जो आचार्यत्व या पाण्डित्य के अनुरूप न हो।

(३) उनकी शैली का तीसरा रूप ओजप्रधान है। लेखकों ने जव-जव भारतीयता की भावना का विरोध किया या अनुचित प्रशंसा अथवा दोषारोपण करने की चेष्टा की, तब-तब द्विवेदी जी ने उनको बुरी तरह फटकारा। इस प्रकार के कथन में ओज का होना स्वाभाविक भी है। यहाँ हम उनकी इस शैली का एक उदाहरण देते हैं। एक महाशय ने 'अँगरेजी राज्य के सुख'-शीर्षक एक पुस्तक लिखी। उसकी भूमिका का कुछ अंश यों है—

Behind and below the ostensible manifestations of loyalty and devotion, there runs an under-current of discontent and unrest brought

सभी दूध के धोये हैं; किसी में विरोध-भावना है ही नहीं। वे तो लेखक को यह सुझाना चाहते थे कि इस प्रकार, बिना समझे-बूझे, बेतुकी बातें, केवल निज स्वार्थसाधन-हेतु, करना निन्दनीय है। साहित्य-सेवी होने का दावा करनेवाले महानुभावों ने भी जब इसी प्रकार की अनर्गल बातें बकी हैं तब द्विवेदी जी ने इसी शैली का प्रयोग किया है। ऐसे स्थलों में उनका उद्देश्य केवल यह रहता था कि लेखक स्वयं लज्जित हो और स्थिति तथा अपना उत्तरदायित्व समझकर काम करे।

दूसरों के विचार

द्विवेदी जी की इस आलोचना-पद्धति की स्वयं विवेचना करने के पहले उसके विषय में दूसरों के विचार जान लेना आवश्यक है। जब द्विवेदी जी ने 'कालिदास की निरंकुशता' दिखाने का प्रयत्न किया तब विद्वानों ने उन पर तरह-तरह के आक्षेप किये और कुछ तो विरोधावेश में सज्जनता की सीमा भी पार कर गये। 'सद्धर्म-प्रचारक'-नामक पत्र के सम्पादक ने तो यहाँ तक कह डाला—

“प्रयाग की सरस्वती, पिछले वर्ष, अपने योग्य संपादक महावीरप्रसाद द्विवेदी के रोगार्त हो जाने से फीकी पड़ गई थी। अब दो मास से फिर द्विवेदी जी ने उसका संपादन-कार्य थारंभ कर दिया है। आपका समालोचनारूपी नशतर दिनप्रतिदिन तेज़ हो रहा है। पहले आपने उससे पाठ्य पुस्तकों और बाबू सीताराम की कविताओं के अंगों की चीर-फाड़ की थी। उसके पीछे भारतेन्दु हरिश्चंद्र जी तथा बाबू गदाधरसिंह आदि पुराने लेखकों की सड़ी हुई भाषा के कीड़े आपने निकाले थे। अब, कविकुलगुरु कालिदास की बारी आई है। ऐसा दीखता है कि कविकुलगुरु की भाषा पुरानी

सभी दूध के धोये हैं; किसी में विरोध-भावना है ही नहीं। वे तो लेखक को यह सुझाना चाहते थे कि इस प्रकार, बिना समझे-बूझे, वेतुकी बातें, केवल निज स्वार्थसाधन-हेतु, करना निन्दनीय है। साहित्य-सेवी होने का दावा करनेवाले महानुभावों ने भी जब इसी प्रकार की अनर्गल बातें बकी हैं तब द्विवेदी जी ने इसी शैली का प्रयोग किया है। ऐसे स्थलों में उनका उद्देश्य केवल यह रहता था कि लेखक स्वयं लज्जित हो और स्थिति तथा अपना उत्तरदायित्व समझकर काम करे।

दूसरों के विचार

द्विवेदी जी की इस आलोचना-पद्धति की स्वयं विवेचना करने के पहले उसके विषय में दूसरों के विचार जान लेना आवश्यक है। जब द्विवेदी जी ने 'कालिदास की निरंकुशता' दिखाने का प्रयत्न किया तब विद्वानों ने उन पर तरह-तरह के आरोप किये और कुछ तो विरोधावेश में सज्जनता की सीमा भी पार कर गये। 'सद्धर्म-प्रचारक'-नामक पत्र के सम्पादक ने तो यहाँ तक कह डाला—

“प्रयाग की सरस्वती, पिछले वर्ष, अपने योग्य संपादक महावीरप्रसाद द्विवेदी के रोगार्त हो जाने से फीकी पड़ गई थी। अब दो मास से फिर द्विवेदी जी ने उसका संपादन-कार्य आरंभ कर दिया है। आपका समालोचनारूपी नशतर दिनप्रतिदिन तेज़ हो रहा है। पहले आपने उससे पाठ्य पुस्तकों और बाबू सीताराम की कविताओं के अंगों की चीर-फाड़ की थी। उसके पीछे भारतेन्दु हरिश्चंद्र जी तथा बाबू गदाधरसिंह आदि पुराने लेखकों की सड़ी हुई भाषा के कीड़े आपने निकाले थे। अब, कविकुलगुरु कालिदास की बारी आई है। ऐसा दीखता है कि कविकुलगुरु की भाषा पुरानी

भी समालोचना करेंगे। जो लोग प्राचीनों की पुस्तकों की समालोचना के खिलाफ हैं वे, और, कतिपय हमारे अन्य मित्र भी ऐसी ही तर्कना करते हैं !”

इस टिप्पणी में जो संकेत किया गया है वही व्यवहार द्विवेदी जी के साथ, संस्कृत-कवियों के दोष दिखाने पर, किया गया था। इस विरोध का कारण जानने के लिए मैंने द्विवेदी जी की ‘कालिदास की निरंकुशता’ भी गौर से देखी और मनसारांम जी की ‘निरंकुशता-निदर्शन’ का भी अध्ययन किया। ठंडे दिल से दोनों पक्षों के विद्वानों की कुछ सम्मतियाँ भी देख गया। द्विवेदी जी ने जो दोष दिखाये हैं वे दोष हैं या नहीं, मनसारांम जी ने उनका जो खंडन किया है, वह यथार्थ है या नहीं, इस विषय पर तो कुछ कहने की हममें योग्यता नहीं। हाँ, इतना लिखना हम आवश्यक समझते हैं कि पक्ष-विपक्ष के बहुत-से विद्वान् द्विवेदी जी और उनके उद्देश्य को, कम से कम इस विषय में, समझे नहीं। द्विवेदी जी ने प्राचीन कवियों की समालोचना तो की ही नहीं है। उन्होंने तो संस्कृत-समालोचकों के कालिदास की कृतियों में दिखाये हुए दोषों का अनुवाद-सा करके पाठकों के सामने रख दिया है। यह बात उन्होंने अपने एक पत्र में बाबू कालिदास जी कपूर को लिखी थी। पत्र ३१-१-१८ को लिखा गया था। उसमें उन्होंने लिखा था—

“निरंकुशता का उद्देश्य निंदा नहीं। उसका अधिकांश क्या, प्रायः सर्वांश प्राचीन टीकाकारों का ही माल है।”

अतः विरोध की कहीं गुंजाइश ही नहीं थी और यदि विरोध किया जाना ही चाहिए था तो द्विवेदी जी का नहीं, वरन

भी समालोचना करेंगे। जो लोग प्राचीनों की पुस्तकों की समालोचना के खिलाफ हैं वे, और, कतिपय हमारे अन्य मित्र भी ऐसी ही तर्कना करते हैं !”

इस टिप्पणी में जो संकेत किया गया है वही व्यवहार द्विवेदी जी के साथ, संस्कृत-कवियों के दोष दिखाने पर, किया गया था। इस विरोध का कारण जानने के लिए मैंने द्विवेदी जी की ‘कालिदास की निरंकुशता’ भी गौर से देखी और मनसारांम जी की ‘निरंकुशता-निदर्शन’ का भी अध्ययन किया। ठंडे दिल से दोनों पक्षों के विद्वानों की कुछ सम्मतियाँ भी देख गया। द्विवेदी जी ने जो दोष दिखाये हैं वे दोष हैं या नहीं, मनसारांम जी ने उनका जो खंडन किया है, वह यथार्थ है या नहीं, इस विषय पर तो कुछ कहने की हममें योग्यता नहीं। हाँ, इतना लिखना हम आवश्यक समझते हैं कि पक्ष-विपक्ष के बहुत-से विद्वान् द्विवेदी जी और उनके उद्देश्य को, कम से कम इस विषय में, समझे नहीं। द्विवेदी जी ने प्राचीन कवियों की समालोचना तो की ही नहीं है। उन्होंने तो संस्कृत-समालोचकों के कालिदास की कृतियों में दिखाये हुए दोषों का अनुवाद-सा करके पाठकों के सामने रख दिया है। यह बात उन्होंने अपने एक पत्र में वावू कालिदास जी कपूर को लिखी थी। पत्र ३१-१-१८ को लिखा गया था। उसमें उन्होंने लिखा था—

“निरंकुशता का उद्देश्य निंदा नहीं। उसका अधिकांश क्या, प्रायः सर्वांश प्राचीन टीकाकारों का ही माल है।”

अतः विरोध की कहीं गुंजाइश ही नहीं थी और यदि विरोध किया जाना ही चाहिए था तो द्विवेदी जी का नहीं, वरन

खूब बिक्री होवे। और कोई कार्य खिदमत मेरे योग्य होय तो लिखिए बसरोचरम तामील की जावेगी।

इति शुभम्।

भवदीय

पुस्तकाध्यक्ष”

द्विवेदीजी ने कोई खिदमत योग्य कार्य लिखने के बजाय ‘सरस्वती’ (भाग १६, संख्या ४) में यह लिख दिया—

“एक महाशय ने हिंदी का एक छोटा-सा व्याकरण बनाया है। वह ‘ज्ञानार्थ कक्षा ४’ है। इस पुस्तक की एक पुरानी और महामैली कापी से हमें किसी ने कृतार्थ किया है। पुस्तक के आवरण-पृष्ठ की पीठ पर पेंसिल से लिखा हुआ उर्दू में कुछ हिसाब-किताब भी दर्ज है। इसके साथ ही एक पत्र हमें मिला है, जिस पर किसी के दस्तखत नहीं हैं।”

यह स्पष्टवादिता लोगों को उनका विरोधी न बना देती तो क्या करती? ‘विश्वकोप’ की आलोचना करते हुए द्विवेदी जी ने जून, १९२७ की सरस्वती में लिखा—

“आलोचना से प्रकाशकों का मतलब इस कोप की केवल प्रशंसा या विज्ञापन से है। उनके पत्र से यही बात सूचित होती है; क्योंकि उन्होंने अपने पत्र में लिखा है—

A good deal of the prospects of the book depends on your appreciation of its merit and public announcements of the same.

परन्तु हमारा कर्तव्य हिन्दी-विश्व-कोप के प्रकाशकों की आज्ञा का पालन करने के सिवा और भी कुछ है। जो सज्जन इस लेख को

खूब बिको होवे। और कोई कार्य खिदमत मेरे योग्य होग तो लिखिए बसरोचरम तामील की जावेगी।

इति शुभम्।

भवदीय

पुस्तकाध्यक्ष

द्विवेदीजी ने कोई खिदमत योग्य कार्य लिखने के बजाय 'सरस्वती' (भाग १६, संख्या ४) में यह लिख दिया—

“एक महाशय ने हिंदी का एक छोटा-सा व्याकरण बनाया है। वह 'ज्ञानार्थ कक्षा ४' है। इस पुस्तक की एक पुरानी और महामैली कापी से हमें किसी ने कृतार्थ किया है। पुस्तक के आवरण-पृष्ठ की पीठ पर पेंसिल से लिखा हुआ उर्दू में कुछ हिसाब-किताब भी दर्ज है। इसके साथ ही एक पत्र हमें मिला है, जिस पर किसी के दस्तखत नहीं हैं।”

यह स्पष्टवादिता लोगों को उनका विरोधी न बना देती तो क्या करती? 'विश्वकोष' की आलोचना करते हुए द्विवेदी जी ने जून, १९२७ की सरस्वती में लिखा—

“आलोचना से प्रकाशकों का मतलब इस कोष की केवल प्रशंसा या विज्ञापन से है। उनके पत्र से यही बात सूचित होती है; क्योंकि उन्होंने अपने पत्र में लिखा है—

A good deal of the prospects of the book depends on your appreciation of its merit and public announcements of the same.

परन्तु हमारा कर्तव्य हिन्दी-विश्व-कोष के प्रकाशकों की आज्ञा का पालन करने के सिवा और भी कुछ है। जो सज्जन इस लेख को

हिन्दी-पुस्तकों की आलोचना से होनेवाले लाभ को तो उनके विरोधियों ने भी स्वीकार किया था। वे जानते थे कि उनकी की हुई आलोचना का हिन्दी में ही नहीं, उसके बाहर भी बड़ा आदर है, और जिस पुस्तक की आलोचना 'सर-स्वती' में निकल जायगी उसकी थोड़ी-बहुत अनियाँ अवश्य विक जायँगी। 'पुस्तकाध्यक्ष' तथा 'हिंदी-विश्व-कोष' के प्रकाशकों के उक्त पत्रों से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है। स्वयं द्विवेदी जी ने ही इस बात को कई बार कहा था। न जनकरी, सन् १९०० में ही उन्हें अपनी आलोचना-विषयक सफलता का अनुमान हो गया था। भाँसी से उन्होंने लिखा था—

The public acknowledged the good result produced by my work as a critic, and the fact of not a single newspaper contradicting the defects of the books that I have exposed, proves that the public has accepted my views. "That my reviews have done ample service to the saqse of Hindi literature is evident from the action of the reviser of the 3rd Hindi Reader who has adopted nearly three-fourths of the suggestions made by me.

प्रभाव और समीक्षा

यद्यपि द्विवेदी जी का समालोचना-सम्बन्धी आदर्श बहुत ऊँचा था, तथापि उनकी समालोचनायें विवेचनात्मक न होकर केवल परिचयात्मक ही हैं, मनन की विशेष सामग्री उनमें नहीं है। इस बात को स्वीकार करते हुए उन्होंने एक पत्र वावू कालि-

हिन्दी-पुस्तकों की आलोचना से होनेवाले लाभ को तो उनके विरोधियों ने भी स्वीकार किया था। वे जानते थे कि उनकी की हुई आलोचना का हिन्दी में ही नहीं, उसके बाहर भी बड़ा आदर है, और जिस पुस्तक की आलोचना 'सर-स्वती' में निकल जायगी उसकी थोड़ी-बहुत प्रतियाँ अवश्य विक जायँगी। 'पुस्तकाध्यक्ष' तथा 'हिन्दी-विश्व-कोष' के प्रकाशकों के उक्त पत्रों से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है। स्वयं द्विवेदी जी ने ही इस बात को कई बार कहा था। न जनवरी, सन् १९०० में ही उन्हें अपनी आलोचना-विषयक सफलता का अनुमान हो गया था। भाँसी से उन्होंने लिखा था—

The public acknowledged the good result produced by my work as a critic, and the fact of not a single newspaper contradicting the defects of the books that I have exposed, proves that the public has accepted my views. That my reviews have done ample service to the saque of Hindi literature is evident from the action of the reviser of the 3rd Hindi Reader who has adopted nearly three-fourths of the suggestions made by me.

प्रभाव और समीक्षा

यद्यपि द्विवेदी जी का समालोचना-सम्बन्धी आदर्श बहुत ऊँचा था, तथापि उनकी समालोचनायें विवेचनात्मक न होकर केवल परिचयात्मक ही हैं, मनन की विशेष सामग्री उनमें नहीं है। इस बात को स्वीकार करते हुए उन्होंने एक पत्र बाबू कालि-

और महेश तीनों को आवश्यकता रही है और रहेगी। यदि ब्रह्मा और विष्णु का काम होता रहा और शिव अपने गणों को साथ लेकर अपने संहार-कार्य में संलग्न हो गए तो साहित्य-सृष्टि के सभी कार्य अव्यवस्थित हो नष्ट हो जायेंगे।

हाँ, यह दूसरी बात है कि एक साधारण सामाजिक व्यक्ति के लिए निष्पक्ष न्यायाधीश बन जाना सरल नहीं है। सा हन्तो-त्रति की सात्त्विक प्रेरणा से प्रेरित होकर जो द्विवेदी जी समा-लोचना किया करते थे, स्वयं उनके विषय में भी यह नहीं कहा जा सकता कि वे सदैव निष्पक्ष रहे हैं। निष्पक्ष विवेचना का दम भरनेवालों को श्रीयुत नवीनचन्द्र का यह कथन स्मरण रखना चाहिए—

“यह तो निश्चित है ही कि कोई भी मनुष्य अपने चिरकालाजित संस्कारों और धारणाओं के विरुद्ध कोई बात लिख ही नहीं सकता। तब उसकी समालोचना निष्पक्ष कैसे हो सकती है? हमारा तो यह ख्याल है कि जो लोग निष्पक्ष होने का दावा रखते हैं, वे मानों अपनी हिस्सारता सिद्ध करना चाहते हैं।”

—सरस्वती (भा० २३, सं० १, पृ० १७)

फिर भी हम यही कहेंगे कि सच्चा समालोचक साहित्य और समाज की निष्पक्ष होकर आलोचना करता है। वह चाहता है कि साहित्य और समाज में छाई हुई निस्तब्धता भंग कर दी जाय और लेखकों तथा समाज के व्यक्तियों को उनकी हीनता और त्रुटि से इस प्रकार परिचित करा दिया जाय कि वे उन दोषों और त्रुटियों को दूर करने के लिए कटिबद्ध हो जायँ। द्विवेदी जी ने भी यही किया। समाज की बात जाने दीजिए, साहित्यिक क्षेत्र में आरंभ से ही उनका उद्देश्य उच्च कोटि के साहित्य की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करता रहा है।

और महेश तीनों को आवश्यकता रही है और रहेगी। यदि ब्रह्मा और विष्णु का काम होता रहा और शिव अपने गणों को साथ लेकर अपने संहार-कार्य में संलग्न हो गए तो साहित्य-सृष्टि के सभी कार्य अव्यवस्थित हो नष्ट हो जायेंगे।

हाँ, यह दूसरी बात है कि एक साधारण सामाजिक व्यक्ति के लिए निष्पक्ष न्यायाधीश बन जाना सरल नहीं है। साहित्योन्नति की सात्त्विक प्रेरणा से प्रेरित होकर जो द्विवेदी जी समालोचना किया करते थे, स्वयं उनके विषय में भी यह नहीं कहा जा सकता कि वे सदैव निष्पक्ष रहे हैं। निष्पक्ष विवेचना का दम भरनेवालों को श्रीयुत नवीनचन्द्र का यह कथन स्मरण रखना चाहिए—

‘यह तो निश्चित है ही कि कोई भी मनुष्य अपने चिरकालाजित संस्कारों और धारणाओं के बिना कोई बात लिख ही नहीं सकता। तब उसकी समालोचना निष्पक्ष कैसे हो सकती है? हमारा तो यह ख्याल है कि जो लोग निष्पक्ष होने का दावा रखते हैं, वे मानों अपनी हिस्सारता सिद्ध करना चाहते हैं।’

—सरस्वती (भा० २३, सं० १, पृ० १७)

फिर भी हम यही कहेंगे कि सच्चा समालोचक साहित्य और समाज को निष्पक्ष होकर आलोचना करता है। वह चाहता है कि साहित्य और समाज में छाई हुई निस्तब्धता भंग कर दी जाय और लेखकों तथा समाज के व्यक्तियों को उनकी हीनता और त्रुटि से इस प्रकार परिचित करा दिया जाय कि वे उन दोषों और त्रुटियों को दूर करने के लिए कटिबद्ध हो जायँ। द्विवेदी जी ने भी यही किया। समाज की बात जाने दीजिए, साहित्यिक क्षेत्र में आरंभ से ही उनका उद्देश्य उच्च कोटि के साहित्य की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करता रहा है।

बड़े, सभी प्रकार के दोषों का दिग्दर्शनमात्र कराया था तथा आगे चलकर संस्कृत के अनेक सुप्रसिद्ध कवियों की विशेषता-परिचायक समीक्षा की थी, जिसे देखकर हिंदी-साहित्य-क्षेत्र में धाँधली मचानेवाले अनधिकारी लोगों ने अनधिकार की चर्चा करना ही छोड़ दिया, वह कालांतर में पूर्ण हुआ और समालोचना साहित्य का प्रधान अंग समझी जाने लगी। फलतः साहित्य-सेवियों का ध्यान साहित्य के इस नवीन अंग की पूर्ति की ओर भी गया। कुछ ही दिनों में आलोचना विषय पर अनुवादित और मौलिक ग्रंथ हिंदी में दिखाई देने लगे जिससे उच्च कोटि के साहित्य की पुस्तकें भी लिखी जाने लगीं।

बड़े, सभी प्रकार के दोषों का दिग्दर्शनमात्र कराया था तथा आगे चलकर संस्कृत के अनेक सुप्रसिद्ध कवियों की विशेषता-परिचायक समीक्षा की थी, जिसे देखकर हिंदी-साहित्य-क्षेत्र में धाँधली मचानेवाले अनधिकारी लोगों ने अनधिकार की चर्चा करना ही छोड़ दिया, वह कालांतर में पूर्ण हुआ और समालोचना साहित्य का प्रधान अंग समझी जाने लगी। फलतः साहित्य-सेवियों का ध्यान साहित्य के इस नवीन अंग की पूर्ति की ओर भी गया। कुछ ही दिनों में आलोचना विषय पर अनुवादित और मौलिक ग्रंथ हिंदी में दिखाई देने लगे जिससे उच्च कोटि के साहित्य की पुस्तकें भी लिखी जाने लगीं।



लिखे थे, जिनमें पंडित प्रतापनारायण मिश्र और पंडित बालकृष्ण भट्ट के नाम विशेष आदर से लिये जाते हैं। मिश्र जी प्रायः सामाजिक और राजनैतिक विषयों पर लिखा करते थे; उनके साहित्यिक लेख अधिक नहीं हैं। भट्ट जी के लेख अधिकतर गंभीर और भावपूर्ण हैं; उनमें घनिष्ठता और व्यक्तित्व की छाप प्रत्यक्ष परिलक्षित होती है। इन्हें हम साहित्यिक और कल्पना सापेक्ष कह सकते हैं। इनकी समता अँगरेजी के सुप्रसिद्ध निबंधलेखक चार्ल्स लैम्ब से की जा सकती है।

इनके अतिरिक्त और भी दो-चार छोटे-मोटे निबन्ध-लेखक इस समय में हुए, पर वे इतनी प्रसिद्धि न पा सके। कारण यह था कि इन लेखकों का सारा ध्यान साहित्य के इसी महत्त्वपूर्ण अंग की पूर्ति की ओर न था। ये लोग कभी अखबार निकालते थे, कभी उपन्यास और नाटक लिखते थे और कभी कविता की आलोचना अथवा इतिहास की खोज करते थे। मिश्र जी और भट्ट जी के बाद बाबू बालमुकुन्द गुप्त, पंडित गोविंदनारायण मिश्र और पंडित माधवप्रसाद मिश्र आदि का नाम आता है। इनमें गुप्त जी तो निबंधलेखक की हैसियत से प्रसिद्ध हैं और शेष दोनों लेखक अपनी शैलियों की विशेषता के कारण। यही लेखक हमें द्विवेदी-युग में ले जाते हैं।

ऊपर के कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि द्विवेदी जी के प्रादुर्भाव के समय हिंदी में अन्य भाषाओं की अपेक्षा साहित्यिक निबंध बहुत कम थे। जिस समय उन्होंने 'सरस्वती' का संपादनकार्य ग्रहण किया, उस समय किसी को यह आशा न थी कि वे साहित्य के इस रिक्त अंश की

लिखे थे, जिनमें पंडित प्रतापनारायण मिश्र और पंडित बालकृष्ण भट्ट के नाम विशेष आदर से लिये जाते हैं। मिश्र जी प्रायः सामाजिक और राजनैतिक विषयों पर लिखा करते थे; उनके साहित्यिक लेख अधिक नहीं हैं। भट्ट जी के लेख अधिकतर गंभीर और भावपूर्ण हैं; उनमें घनिष्ठता और व्यक्तित्व की छाप प्रत्यक्ष परिलक्षित होती है। इन्हें हम साहित्यिक और कल्पना सापेक्ष कह सकते हैं। इनकी समता अंगरेजी के सुप्रसिद्ध निबंधलेखक चार्ल्स लैम्ब से की जा सकती है।

इनके अतिरिक्त और भी दो-चार छोटे-मोटे निबंध-लेखक इस समय में हुए, पर वे इतनी प्रसिद्धि न पा सके। कारण यह था कि इन लेखकों का सारा ध्यान साहित्य के इसी महत्त्वपूर्ण अंग की पूर्ति की ओर न था। ये लोग कभी अखबार निकालते थे, कभी उपन्यास और नाटक लिखते थे और कभी कविता की आलोचना अथवा इतिहास की खोज करते थे। मिश्र जी और भट्ट जी के बाद बाबू बालमुकुन्द गुप्त, पंडित गोविंदनारायण मिश्र और पंडित माधवप्रसाद मिश्र आदि का नाम आता है। इनमें गुप्त जी तो निबंधलेखक की हैसियत से प्रसिद्ध हैं और शेष दोनों लेखक अपनी शैलियों की विशेषता के कारण। यही लेखक हमें द्विवेदी-युग में ले जाते हैं।

ऊपर के कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि द्विवेदी जी के प्रादुर्भाव के समय हिंदी में अन्य भाषाओं की अपेक्षा साहित्यिक निबंध बहुत कम थे। जिस समय उन्होंने 'सरस्वती' का संपादनकार्य ग्रहण किया, उस समय किसी को यह आशा न थी कि वे साहित्य के इस रिक्त अंश की

ऐसे लेख न छपते हों। जनता के लिए ये विषय नये थे, अतः वह इन्हें विशेष आदर की दृष्टि से देखती थी।

द्विवेदी जी के निबंधों में मुख्य पाँच विभाग किये जा सकते हैं—

१—साहित्यिक।

२—जीवनियाँ।

३—आधिष्कार और विज्ञान-संबंधी।

४—पुरातत्त्व और इतिहास-संबंधी।

५—आश्चर्य-जनक और कौतूहल-वर्द्धक।

१—साहित्यिक—

द्विवेदी जी के साहित्य-विषयक निबंध ५० के ऊपर हैं। ये विशेष आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। इनमें से कुछ तो भाषा और व्याकरण पर लिखे गये हैं, कुछ साहित्य-विवेचन पर। कुछ में ग्रंथों का आलोचनात्मक परिचय है और कुछ में भाषा व साहित्य-शास्त्रीय परिचय। इस प्रकार हम इनके चार भाग कर सकते हैं—

(क) हिंदी भाषा और व्याकरण-संबंधी—उस समय लेखक भाषा और व्याकरण के नियमों की विशेष परवा नहीं करते थे, अतः उनके लेखों में भाषा और व्याकरण-संबंधी दोषों की भरमार रहती थी। द्विवेदी जी ने ऐसे लेखकों को सावधान करने के लिए 'भाषा और व्याकरण के दोष', 'भाषा की अनस्थिरता' आदि लेख लिखे। इन लेखों के द्वारा उन्होंने लोगों के सामने भाषा की शुद्धता का प्रश्न रक्खा। हिंदी-संसार में अपूर्व जागृति दिखाई देने लगी और भाषा व व्याकरण-संबंधी वादविवाद उठ खड़े हुए। इन विवादों से भाषा और शब्दों के रूपों में बहुत

ऐसे लेख न छपते हों। जनता के लिए ये विषय नये थे, अतः वह इन्हें विशेष आदर की दृष्टि से देखती थी।

द्विवेदी जी के निबंधों में मुख्य पाँच विभाग किये जा सकते हैं—

१—साहित्यिक।

२—जीवनियाँ।

३—आधिष्कार और विज्ञान-संबंधी।

४—पुरातत्त्व और इतिहास-संबंधी।

५—आश्चर्य-जनक और कौतूहल-वर्द्धक।

१—साहित्यिक—

द्विवेदी जी के साहित्य-विषयक निबंध ५० के ऊपर हैं। ये विशेष आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। इनमें से कुछ तो भाषा और व्याकरण पर लिखे गये हैं, कुछ साहित्य-विवेचन पर। कुछ में ग्रंथों का आलोचनात्मक परिचय है और कुछ में भाषा व साहित्य-शास्त्रीय परिचय। इस प्रकार हम इनके चार भाग कर सकते हैं—

(क) हिंदी भाषा और व्याकरण-संबंधी—उस समय लेखक भाषा और व्याकरण के नियमों की विशेष परवा नहीं करते थे, अतः उनके लेखों में भाषा और व्याकरण-संबंधी दोषों की भरमार रहती थी। द्विवेदी जी ने ऐसे लेखकों को सावधान करने के लिए 'भाषा और व्याकरण के दोष', 'भाषा की अनस्थिरता' आदि लेख लिखे। इन लेखों के द्वारा उन्होंने लोगों के सामने भाषा की शुद्धता का प्रश्न रखवा। हिंदी-संसार में अपूर्व जागृति दिखाई देने लगी और भाषा व व्याकरण-संबंधी वादविवाद उठ खड़े हुए। इन विवादों से भाषा और शब्दों के रूपों में बहुत

नहीं। हिन्दी का साहित्य इस प्रकार के निबंधों से शून्य-सा हो रहा है। जैसे और और बातों में बँगला और मराठी भाषा का साहित्य हिन्दी-साहित्य से बड़ा हुआ है, वैसे ही वह इस विषय में भी है।”

दूसरे प्रकार के निबंध वे हैं जिनमें हिन्दी-पुस्तकों की आलोचना की गई है। ये आलोचनायें हिन्दी की उन पुस्तकों की हैं जो द्विवेदी जी के समय में प्रकाशित होती और उनके पास समालोचनार्थ आती थीं। इनमें इतिहास, विज्ञान, भूगोल, गद्य-पद्य, नाटक, उपन्यास, जीवनचरित, धर्म आदि सभी विषयों की पुस्तकें हैं। द्विवेदी जी ने इन पुस्तकों की आलोचना करते समय नीर-क्षीर-विवेक का अच्छा परिचय दिया है। इनके अतिरिक्त सरकारी वार्षिक रिपोर्टों का भी आलोचनात्मक परिचय वे अपने पाठकों को समय समय पर दिया करते थे। इन समालोचनाओं से हिन्दी-साहित्य के कूरा-करकट को छाँटने और नये होनहार लेखकों को प्रोत्साहित करने का आश्चर्यजनक कार्य हुआ।

तीसरे प्रकार के निबंध अन्य भाषाओं के ग्रंथों की आलोचना-संबंधी हैं। जैसे मराठी के रामायण और महाभारत नामक ग्रंथों का आलोचनात्मक परिचय। ऐसी आलोचनाओं में न केवल उनके गुण-दोषों का विवेचन किया गया है प्रत्युत उनकी तुलना में हिन्दी-साहित्य में जो कमी थी उनका भी निदर्शन किया गया है—हिन्दी-लेखकों के लिए ऐसी आलोचनायें मार्गप्रदर्शन का काम करती थीं।

(घ) साहित्य-शास्त्र—‘नाट्यशास्त्र’, ‘हिन्दी भाषा की उत्पत्ति’ शीर्षक निबंध साहित्यशास्त्र-संबंधी लेख हैं। ये लेख कुछ बड़े हैं और अलग-अलग पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके

नहीं। हिन्दी का साहित्य इस प्रकार के निबन्धों से शून्य-सा हो रहा है। जैसे और और बातों में बँगला और मराठी भाषा का साहित्य हिन्दी-साहित्य से बड़ा हुआ है, वैसे ही वह इस विषय में भी है।”

दूसरे प्रकार के निबंध वे हैं जिनमें हिन्दी-पुस्तकों की आलोचना की गई है। ये आलोचनायें हिन्दी की उन पुस्तकों की हैं जो द्विवेदी जी के समय में प्रकाशित होती और उनके पास समालोचनार्थ आती थीं। इनमें इतिहास, विज्ञान, भूगोल, गद्य-पद्य, नाटक, उपन्यास, जीवनचरित, धर्म आदि सभी विषयों की पुस्तकें हैं। द्विवेदी जी ने इन पुस्तकों की आलोचना करते समय नीर-क्षीर-विवेक का अच्छा परिचय दिया है। इनके अतिरिक्त सरकारी वार्षिक रिपोर्टों का भी आलोचनात्मक परिचय वे अपने पाठकों को समय समय पर दिया करते थे। इन समालोचनाओं से हिन्दी-साहित्य के कूरा-करकट को छाँटने और नये होनहार लेखकों को प्रोत्साहित करने का आश्चर्यजनक कार्य हुआ।

तीसरे प्रकार के निबंध अन्य भाषाओं के ग्रंथों की आलोचना-संबंधी हैं। जैसे मराठी के रामायण और महाभारत नामक ग्रंथों का आलोचनात्मक परिचय। ऐसी आलोचनाओं में न केवल उनके गुण-दोषों का विवेचन किया गया है प्रत्युत उनकी तुलना में हिन्दी-साहित्य में जो कमी थी उनका भी निदर्शन किया गया है—हिन्दी-लेखकों के लिए ऐसी आलोचनायें मार्गप्रदर्शन का काम करती थीं।

(घ) साहित्य-शास्त्र—‘नाट्यशास्त्र’, ‘हिन्दी भाषा की उत्पत्ति’ शीर्षक निबंध साहित्यशास्त्र-संबंधी लेख हैं। ये लेख कुछ बड़े हैं और अलग-अलग पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके

जाग्रत हो और इस दिशा में उन्हें प्रोत्साहन मिले। दूसरे प्रकार की जीवनियाँ—यथा मायकेल मधुसूदनदत्त, नवीन-चन्द्र राय व रवीन्द्रनाथ ठाकुर की इस उद्देश्य से लिखी गई थीं कि इन महापुरुषों को देश-विदेश में जो ख्याति प्राप्त हुई है उससे प्रभावित होकर लोग हिंदी-सेवा की ओर झुकें और साथ ही यह भी देख सकें कि इन मनस्वियों की सेवा और आराधना से इनकी मातृभाषा कैसी श्रीसम्पन्न हो गई है और हमारी मातृभाषा हिंदी अब तक कैसी रंक और हीन बनी हुई है। इस प्रकार के लेख 'सुकवि-संकीर्तन' में संगृहीत हैं।

(ख) विद्वानों, इतिहास-वेत्ताओं और वक्ताओं की जीवनियाँ—द्विवेदी जी ने ऐसे जिन व्यक्तियों के विषय में लिखा है, वे प्रायः सभी भारतवासी थे; पर अधिकांश अपनी मातृ-भाषा को छोड़कर विदेशी भाषाओं में लिखा करते थे। उनका संक्षिप्त परिचय देकर द्विवेदी जी उनसे अपनी मातृभाषा को अपनाने और उसी में लिखने का अनुरोध किया करते थे। उनके इस उद्योग से हिंदी को कई प्रतिभाशाली लेखक प्राप्त हो गये थे। महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा का नाम भी उन्हीं लेखकों में आता है, जो पहले अँगरेज़ी में ही लिखते थे, पर द्विवेदी जी की प्रेरणा से हिंदी में भी लिखने लगे।

(ग) शाहों, सुल्तानों और अमीरों की जीवनियाँ—इनमें से जो ऐतिहासिक हैं उन में लिखने का उद्देश्य यह था कि उनसे पाठकों का मनोविनोद भी हो और साथ ही साथ उन्हें इतिहास का भी ज्ञान हो। कुछ जीवनियों में ऐसे तथ्य भी दिये गये हैं जिन्हें किसी कारणवश उस समय के इतिहास-लेखक छिपाना चाहते थे। फलतः इतिहास के विद्यार्थियों

जाग्रत हो और इस दिशा में उन्हें प्रोत्साहन मिले। दूसरे प्रकार की जीवनियाँ—यथा मायकेल मधुसूदनदत्त, नवीन-चन्द्र राय व रवीन्द्रनाथ ठाकुर की इस उद्देश्य से लिखी गई थीं कि इन महापुरुषों को देश-विदेश में जो ख्याति प्राप्त हुई है उससे प्रभावित होकर लोग हिंदी-सेवा की ओर भुके और साथ ही यह भी देख सकें कि इन मनस्वियों की सेवा और आराधना से इनकी मातृभाषा कैसी श्रीसम्पन्न हो गई है और हमारी मातृभाषा हिंदी अब तक कैसी रंक और हीन बनी हुई है। इस प्रकार के लेख 'सुकवि-संकीर्तन' में संगृहीत हैं।

(ख) विद्वानों, इतिहास-वेत्ताओं और वक्ताओं की जीवनियाँ—द्विवेदी जी ने ऐसे जिन व्यक्तियों के विषय में लिखा है, वे प्रायः सभी भारतवासी थे; पर अधिकांश अपनी मातृ-भाषा को छोड़कर विदेशी भाषाओं में लिखा करते थे। उनका संक्षिप्त परिचय देकर द्विवेदी जी उनसे अपनी मातृभाषा को अपनाने और उसी में लिखने का अनुरोध किया करते थे। उनके इस उद्योग से हिंदी को कई प्रतिभाशाली लेखक प्राप्त हो गये थे। महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा का नाम भी उन्हीं लेखकों में आता है, जो पहले अँगरेजी में ही लिखते थे, पर द्विवेदी जी की प्रेरणा से हिंदी में भी लिखने लगे।

(ग) शाहों, सुल्तानों और अमीरों की जीवनियाँ—इनमें से जो ऐतिहासिक हैं उन में लिखने का उद्देश्य यह था कि उनसे पाठकों का मनोविनोद भी हो और साथ ही साथ उन्हें इतिहास का भी ज्ञान हो। कुछ जीवनियों में ऐसे तथ्य भी दिये गये हैं जिन्हें किसी कारणवश उस समय के इतिहास-लेखक छिपाना चाहते थे। फलतः इतिहास के विद्यार्थियों

विरुद्ध उन्होंने कई स्वतंत्र लेख व कवितायें लिखी थीं। उस समय के सुधारकों का परिचय लिखने में भी द्विवेदी जी का खास ध्येय यही था जि जनता समाजगत बुराइयों को समझ जाय और सुधारकों के बतलाये हुए मार्ग पर चलकर अधिक से अधिक उन्नति कर सके।

३—आविष्कार और विज्ञान-संबंधी—

विज्ञान हिंदी के लिए विलकुल ही नया विषय था और पहले-पहल द्विवेदी जी ने ही इस पर लिखना शुरू किया। इस प्रकार के निबंध भी अधिकतर 'सरस्वती' के संपादनकाल में ही लिखे गये थे। इनको लिखने में दूसरी पुस्तकों—विशेष कर अँगरेजी पत्र-पत्रिकाओं—से विशेष सहायता ली गई थी। आविष्कार और विज्ञान-संबंधी लेखों की आवश्यकता और महत्ता पर 'शिक्षा' नाम की पुस्तक की भूमिका (पृ० ४, ५) में द्विवेदी जी लिखते हैं—

“व्यापार-बंधों करके यथेष्ट धन-संपादन का जो मार्ग स्पेन्सर ने बतलाया है वह और भी अधिक महत्त्व-पूर्ण है। क्योंकि, इस समय, इस विषय में हमारे देश की दशा अत्यन्त हीन हो रही है। हम लोगों को पेट भर खाने तक को नहीं मिलता। इस अवस्था में, सामाजिक या राजनैतिक विषयों की उन्नति होना प्रायः असंभव है। जो भूखा है वह समाज का क्या सुधार करेगा? उससे राजनैतिक विषयों की उन्नति की आशा रखना केवल दुराशा है। इसलिए हम लोगों को उदरपूर्ति के लिए पहले प्रयत्न करना चाहिए। इस विषय में हमारा एक-मात्र त्राता विज्ञान है। वैज्ञानिक शिक्षा को स्पेन्सर ने इसा लिए प्रधानता दी है और सब तरह की शिक्षाओं में इसी को सबसे अधिक उपयोगी बतलाया है। इस शिक्षा की ओर ध्यान देना प्रत्येक भारतवासी का परम कर्तव्य होना चाहिए।”

विरुद्ध उन्होंने कई स्वतंत्र लेख व कवितायें लिखी थीं। उस समय के सुधारकों का परिचय लिखने में भी द्विवेदी जी का खास ध्येय यही था जि जनता समाजगत बुराइयों को ममभ जाय और सुधारकों के बतलाये हुए मार्ग पर चलकर अधिक से अधिक उन्नति कर सके।

३—आविष्कार और विज्ञान-संवंधी—

विज्ञान हिंदी के लिए विलकुल ही नया विषय था और पहले-पहल द्विवेदी जी ने ही इस पर लिखना शुरू किया। इस प्रकार के निबंध भी अधिकतर 'सरस्वती' के संपादनकाल में ही लिखे गये थे। इनको लिखने में दूसरी पुस्तकों—विशेष कर अँगरेजी पत्र-पत्रिकाओं—से विशेष सहायता ली गई थी। आविष्कार और विज्ञान-संवंधी लेखों की आवश्यकता और महत्ता पर 'शिक्षा' नाम की पुस्तक की भूमिका (पृ० ४, ५) में द्विवेदी जी लिखते हैं—

“व्यापार-बंधा करके यथेष्ट धन-संपादन का जो मार्ग स्पेन्सर ने बतलाया है वह और भी अधिक महत्त्व-पूर्ण है। क्योंकि, इस समय, इस विषय में हमारे देश की दशा अत्यन्त हीन हो रही है। हम लोगों को पेट भर खाने तक को नहीं मिलता। इस अवस्था में, सामाजिक या राजनैतिक विषयों की उन्नति होना प्रायः असंभव है। जो भूखा है वह समाज का क्या सुधार करेगा? उससे राजनैतिक विषयों की उन्नति की आशा रखना केवल दुराशा है। इसलिए हम लोगों को उदरपूर्ति के लिए पहले प्रयत्न करना चाहिए। इस विषय में हमारा एक-मात्र त्राता विज्ञान है। वैज्ञानिक शिक्षा को स्पेन्सर ने इसा लिए प्रधानता दी है और सब तरह की शिक्षाओं में इसी को सबसे अधिक उपयोगी बतलाया है। इस शिक्षा की ओर ध्यान देना प्रत्येक भारतवासी का परम कर्तव्य होना चाहिए।”

संगृहीत हैं। यह पुस्तक गंगा-पुस्तक-माला-कार्यालय, लखनऊ, से प्रकाशित हुई है। इसमें 'एक योगी की साप्ताहिक समाधि', 'आकाश में निराधार स्थिति', 'अंतःसाक्षित्व-विद्या', 'पर-लोक से प्राप्त हुए पत्र', 'एक ही शरीर में अनेक आत्मायें' आदि अनेक आश्चर्य-जनक एवं कौतूहल-वर्द्धक विषयों पर लिखे हुए निबंधों का समावेश है। इस पुस्तक के आरंभ में परिचय देते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है—

“इस संग्रह में २२ लेख हैं। कुछ पुराने हैं, कुछ थोड़े ही समय पूर्व के लिखे हुए हैं। जो पुराने हैं, वे पुराने होकर भी पुराने नहीं। एक तो भूली हुई पुरानी बात भी सुनने पर नई मालूम होती है। दूसरे, इस पुस्तक में जिन विषयों का उल्लेख है, उनमें से अधिकांश पुराने हो ही नहीं सकते।”

इन निबंधों की उपयोगिता पर भी हम अपनी ओर से कुछ न कह कर द्विवेदी जी का कथन ही दोहरा देना उचित समझते हैं—

“कामों से छुट्टी मिलने पर, मनोरंजन की इच्छा रखनेवाले पुस्तकप्रेमी इसके पाठ से अपने समय का सद्व्यय कर सकते हैं; और सम्भव है, इससे उन्हें कुछ नई बातें मालूम हो जायें।”

संदेह में द्विवेदी जी ने प्रायः सभी विषयों पर लेख लिखे हैं। उनमें से अनेक विषय तो उस समय के लिए विलकुल नये ही थे। यदि उनका इतना प्रचार हो गया है तो इसका श्रेय द्विवेदी जी के अतिरिक्त किसे दिया जाय ? बीसवीं शताब्दी के आरंभ में निबंध-रचना की ओर साहित्य-सेवियों का ध्यान आकृष्ट करनेवाले द्विवेदी जी ही थे। उनको रास्ता दिखाने के लिए उन्होंने लार्ड बेकन के कुछ निबंधों का बेकन-विचार-

संगृहीत हैं। यह पुस्तक गंगा-पुस्तक-माला-कार्यालय, लखनऊ, से प्रकाशित हुई है। इसमें 'एक योगी की साप्ताहिक समाधि', 'आकाश में निराधार स्थिति', 'अंतःसाक्षित्व-विद्या', 'पर-लोक से प्राप्त हुए पत्र', 'एक ही शरीर में अनेक आत्माएँ' आदि अनेक आश्चर्य-जनक एवं कौतूहल-वर्द्धक विषयों पर लिखे हुए निबंधों का समावेश है। इस पुस्तक के आरंभ में परिचय देने हुए द्विवेदी जी ने लिखा है—

“इस संग्रह में २२ लेख हैं। कुछ पुराने हैं, कुछ थोड़े ही समय पूर्व के लिखे हुए हैं। जो पुराने हैं, वे पुराने होकर भी पुराने नहीं। एक तो भूली हुई पुरानी बात भी सुनने पर नई मालूम होती है। दूसरे, इस पुस्तक में जिन विषयों का उल्लेख है, उनमें में अधिकांश पुराने हो ही नहीं सकते।”

इन निबंधों की उपयोगिता पर भी हम अपनी ओर से कुछ न कह कर द्विवेदी जी का कथन ही दोहरा देना उचित समझते हैं—

“कामों से छुट्टी मिलने पर, मनोरंजन की इच्छा रखनेवाले पुस्तकप्रेमी इसके पाठ से अपने समय का सद्व्यय कर सकते हैं; और सम्भव है, इससे उन्हें कुछ नई बातें मालूम हो जायँ।”

संक्षेप में द्विवेदी जी ने प्रायः सभी विषयों पर लेख लिखे हैं। उनमें से अनेक विषय तो उस समय के लिए विलकुल नये ही थे। यदि उनका इतना प्रचार हो गया है तो इसका श्रेय द्विवेदी जी के अतिरिक्त किसे दिया जाय ? बीसवीं शताब्दी के आरंभ में निबंध-रचना की ओर साहित्य-सेवियों का ध्यान आकृष्ट करनेवाले द्विवेदी जी ही थे। उनको रास्ता दिखाने के लिए उन्होंने लार्ड बेकन के कुछ निबंधों का बेकन-विचार-

हिंदी-साहित्य के रिक्त अंगों की पूर्ति करने के लिए उत्साहित किया। अपने इस प्रयत्न में उन्हें आशातीत सफलता भी मिली। उनकी इच्छा पूर्ण हुई और हिंदी की दिन-दिन उन्नति होने लगी। एक शब्द में द्विवेदी जी के लेखों का यही महत्त्व है।

पुस्तकें

सुप्रसिद्ध अँगरेजी लेखक जानसन की सब पुस्तकें प्रकाशित होने के बाद फ्रांस, जर्मनी और इटली के बड़े-बड़े विद्वानों ने आश्चर्य से कहा था—इतना काम तो कई साहित्यिक संस्थाओं का होना चाहिए—शायद कई 'अकेडमी' मिल कर भी इतने थोड़े समय में इतना नहीं लिख सकतीं जितना इस एक व्यक्ति ने अपने जीवनकाल में लिखा है। यही बात द्विवेदी जी के विषय में भी कही जा सकती है। मोटे तौर पर दो-एक विद्वानों ने, जिनमें श्रीयुत शिवपूजनसहाय जी और पंडित यज्ञ-दत्त जी शुक्ल बी० ए० का नाम विशेष उल्लेखनीय है, हिसाब लगाकर अनुमान किया है कि लगभग २५ वर्ष के अंदर द्विवेदी जी ने लगभग २५ हजार पृष्ठ—एक वर्ष में लगभग १ हजार पृष्ठ—लिखे हैं। इनमें अधिकांश लेख हैं, जो प्रायः सभी पुस्तकों के रूप में संकलित हो चुके हैं। संपादकीय टिप्पणियाँ और एक-एक, दो-दो सकों के छोटे-छोटे नोट अभी बाकी हैं। उनकी पुस्तकों की सूची इस प्रकार है—

पद्य

- (१) विनय-विनोद (१८८६) (२) विहार-झाटिका (१८६०)
- (३) स्नेहमाला (१८६०) (४) ऋतु-तरंगिणी (१८६१) (५)
- गंगालहरी (१८६१ अनुवाद) (६) देवीस्तुतिशतक (१८६२)
- (७) महिम्न-स्तोत्र (८) कुमार-संभव-सार (कालिदास के 'कुमार

हिंदी-साहित्य के रिक्त अंगों की पूर्ति करने के लिए उत्साहित किया। अपने इस प्रयत्न में उन्हें आशातीत सफलता भी मिली। उनकी इच्छा पूर्ण हुई और हिंदी की दिन-दिन उन्नति होने लगी। एक शब्द में द्विवेदी जी के लेखों का यही महत्त्व है।

पुस्तकें

सुप्रसिद्ध अँगरेजी लेखक जानसन की सब पुस्तकें प्रकाशित होने के बाद फ्रांस, जर्मनी और इटली के बड़े-बड़े विद्वानों ने आश्चर्य से कहा था—इतना काम तो कई साहित्यिक संस्थाओं का होना चाहिए—शायद कई 'अकेडमी' मिल कर भी इतने थोड़े समय में इतना नहीं लिख सकतीं जितना इस एक व्यक्ति ने अपने जीवनकाल में लिखा है। यही बात द्विवेदी जी के विषय में भी कही जा सकती है। मोटे तौर पर दो-एक विद्वानों ने, जिनमें श्रीयुत शिवपूजनसहाय जी और पंडित यज्ञ-दत्त जी शुक्ल वी० ए० का नाम विशेष उल्लेखनीय है, हिसाब लगाकर अनुमान किया है कि लगभग २५ वर्ष के अंदर द्विवेदी जी ने लगभग २५ हजार पृष्ठ—एक वर्ष में लगभग १ हजार पृष्ठ—लिखे हैं। इनमें अधिकांश लेख हैं, जो प्रायः सभी पुस्तकों के रूप में संकलित हो चुके हैं। संपादकीय टिप्पणियाँ और एक-एक, दो-दो सकों के छोटे-छोटे नोट अभी बाकी हैं। उनकी पुस्तकों की सूची इस प्रकार है—

पद्य

- (१) विनय-विनोद (१८८६) (२) विहार-वार्तिका (१८६०)
- (३) स्नेहमाला (१८६०) (४) ऋतु-तरंगिणी (१८६१) (५)
- गंगालहरी (१८६१ अनुवाद) (६) देवीस्तुतिशतक (१८६२)
- (७) महिम्न-स्तोत्र (८) कुमार-संभव-सार (कालिदास के 'कुमार

परिचय भी है। 'किरातार्जुनीय के कतिपय दोष और गुण' शीर्षक नोट बड़े महत्त्व का है। यह भूमिका ४४ पृष्ठों में समाप्त हुई है। (२०) आलोचनांजलि (१६२७ लेखों का संग्रह) (२१) आख्यायिका सप्तक (१६२७ बँगला, अँगरेजी और संस्कृत-भाषाओं की भिन्न-भिन्न पुस्तकों के आधार पर १६०२, ३, ४ और १३ में लिखी हुई सात कथा-प्रधान कहानियाँ) (२२) कोविद-कीर्तन (१६२७) (२३) विदेशी विद्वान् (१६२७, लेखों का संग्रह) (२४) प्राचीन चिह्न (१६२७) (२५) चरित-चर्या (लेखों का संग्रह) (२६) पुरावृत्त (१६२७) (२७) लोअर प्राइमरी रीडर (२८) अपर प्राइमरी रीडर (२९) शिक्षा-सरोज (रीडर पाँचवाँ भाग) (३०) बालबोध या वर्ण-बोध (प्राइमर) (३१) जिले कानपुर का भूगोल (३२) आध्यात्मिकी (१६२६) (३३) औद्योगिकी (१६२०) (३४) रसज्ञ-रंजन (१६२०) (कविता विषयक लेखों का संग्रह) (३५) कालिदास (१६२०) (३६) वैचित्र्य-चित्रण (३७) विज्ञानवार्ता (१६३०, विज्ञानसंबंधी लेखों का संग्रह) (३८) चरित्र-चित्रण (जून १६२६ लेखों का संग्रह) (३९) विज्ञ-विनोद (४०) समालोचना-समुच्चय (आलोचनात्मक लेखों का संग्रह—१६२८), (४१) वाग्विलास, (४२) साहित्य-संदर्भ (१६२४—पुरातन विषयों और पुरातन पुस्तकों-संबंधी २० आलोचनात्मक लेखों का संग्रह) (४३) वनिता-विलास १६१६—१६०३, ४, १३ में लिखे हुए १० स्त्रियों के परिचयात्मक जीवनचरितों का संग्रह) (४४) सुकवि-संकीर्तन (१६२२—लेखों का संग्रह) (४५) प्राचीन पंडित और कवि (१६१५ अन्य भाषाओं—विशेष कर मराठी और अँगरेजी—के आधार पर लिखे हुए जीवन-चरित) (४६) संकलन (१६३१) (४७) विचार-विमर्श (१६३१) (४८) पुरातत्त्वप्रसंग (जनवरी १६२६—इसी विषय के लेखों का संग्रह) (४९) साहित्यालाप (लेखों का संग्रह)

परिचय भी है। 'किरातार्जुनीय के कतिपय दोष और गुण' शीर्षक नोट बड़े महत्त्व का है। यह भूमिका ४४ पृष्ठों में समाप्त हुई है। (२०) आलोचनांजलि (१६२७ लेखों का संग्रह) (२१) आख्यायिका सप्तक (१६२७ बँगला, अँगरेजी और संस्कृत-भाषाओं की भिन्न-भिन्न पुस्तकों के आधार पर १६०२, ३, ४ और १३ में लिखी हुई सात कथा-प्रधान कहानियाँ) (२२) कोविद-कीर्तन (१६२७) (२३) विदेशी विद्वान् (१६२७, लेखों का संग्रह) (२४) प्राचीन चिह्न (१६२७) (२५) चरित-चर्या (लेखों का संग्रह) (२६) पुरावृत्त (१६२७) (२७) लोअर प्राइमरी रीडर (२८) अपर प्राइमरी रीडर (२९) शिक्षा-सरोज (रीडर पाँचवाँ भाग) (३०) बालबोध या वर्ण-बोध (प्राइमर) (३१) जिले कानपुर का भूगोल (३२) आध्यात्मिकी (१६२६) (३३) औद्योगिकी (१६२०) (३४) रसज्ञ-रंजन (१६२०) (कविता विषयक लेखों का संग्रह) (३५) कालिदास (१६२०) (३६) वैचित्र्य चित्रण (३७) विज्ञानवार्ता (१६३०, विज्ञानसंबंधी लेखों का संग्रह) (३८) चरित्र-चित्रण (जून १६२६ लेखों का संग्रह) (३९) विज्ञ-विनोद (४०) समालोचना-समुच्चय (आलोचनात्मक लेखों का संग्रह—१६२८), (४१) वाग्विलास, (४२) साहित्य-संदर्भ (१६२४—पुरातन विषयों और पुरातन पुस्तकों-संबंधी २० आलोचनात्मक लेखों का संग्रह) (४३) वनिता-विलास १६१६—१६०३, ४, १३ में लिखे हुए १० स्त्रियों के परिचयात्मक जीवनचरितों का संग्रह) (४४) सुकवि-संकीर्तन (१६२२—लेखों का संग्रह) (४५) प्राचीन पंडित और कवि (१६१६ अन्य भाषाओं—विशेष कर मराठी और अँगरेजी—के आधार पर लिखे हुए जीवन-चरित) (४६) संकलन (१६३१) (४७) विचार-विमर्श (१६३१) (४८) पुरातत्त्वप्रसंग (जनवरी १६२६—इसी विषय के लेखों का संग्रह) (४९) साहित्यालाप (लेखों का संग्रह)

वेदना' (नैपथ्य-चरित-चर्चा पर 'मरस्वती'—२५-५-१९०) में मिल सकते हैं। वास्तव में उनके प्रायः सभी अनुवादित ग्रंथों में उनकी भाषा-शैली क्रमशः विकसित हुई है। इन नवमें भाषा-संस्कार के इतिहास की प्रचुर सामग्री मिलेगी; किंतु इनमें द्विवेदी जी का वह व्यक्तित्व बहुत-कुछ ढँढ़ने पर ही मिलेगा जो इस समय हम लोगों के सामने विशद रूप में आया है। उन्हें पढ़कर साहित्य का कोई विद्यार्थी संभवतः यह नहीं कह सकेगा कि यह द्विवेदी जी की ही लेखनी है, और किसी की नहीं। आज से सौ वर्ष के बाद का विद्यार्थी तो कदाचित् और भी द्विविधा में पड़ेगा। बात यह है कि द्विवेदी जी ने गूड़ी बोली की भाषा-शैली की व्यवस्था अवश्य की है; उसमें निश्चय ही उनका निजत्व हो, किंतु यह व्यवस्था उनकी कलम के मँजने पर ही हुई है और वह निजत्व आते-आते आया है। उन्होंने केवल दूसरों की भाषा का ही नहीं, अपनी भाषा का भी मार्जन किया है। उनकी शब्द-संपत्ति और भाषा की संघटित प्रतिमा कालांतर में प्रतिष्ठित हुई है।* परंतु यह होते हुए भी हमें मानना पड़ेगा कि उनके अनुवादित ग्रंथ भी मौलिक का-सा आनंद देते हैं और उनसे मनोरंजन के साथ-साथ ज्ञान-प्राप्ति भी होती है।

वेदना' (नैपथ-चरित-चर्चा पर 'सरस्वती'—२५-१-१९०) में मिल सकते हैं। वास्तव में उनके प्रायः सभी अनुवादित ग्रंथों में उनकी भाषा-शैली क्रमशः विकसित हुई है। इन ग्रंथों में भाषा-संस्कार के इतिहास की प्रचुर सामग्री मिलेगी; किंतु इनमें द्विवेदी जी का वह व्यक्तित्व बहुत-कुछ ढँढ़ने पर ही मिलेगा जो इस समय हम लोगों के सामने विशद रूप में आया है। उन्हें पढ़कर साहित्य का कोई विद्यार्थी संभवतः यह नहीं कह सकेगा कि यह द्विवेदी जी की ही लेखनी है, और किसी की नहीं। आज से सौ वर्ष के बाद का विद्यार्थी तो कदाचित् और भी द्विविधा में पड़ेगा। बात यह है कि द्विवेदी जी ने गूड़ी बोली की भाषा-शैली की व्यवस्था अवश्य की है; उसमें निश्चय ही उनका निजत्व हो, किंतु यह व्यवस्था उनकी कलम के मैजने पर ही हुई है और वह निजत्व आते-आते आया है। उन्होंने केवल दूसरों की भाषा का ही नहीं, अपनी भाषा का भी मार्जन किया है। उनकी शब्द-संपत्ति और भाषा की संघटित प्रतिमा कालांतर में प्रतिष्ठित हुई है।* परंतु यह होते हुए भी हमें मानना पड़ेगा कि उनके अनुवादित ग्रंथ भी मौलिक का-सा आनंद देते हैं और उनसे मनोरंजन के साथ-साथ ज्ञान-प्राप्ति भी होती है।

कंसादिक शैनादिजन कीर्ती भई विनाश
 की गिरिवर निरन्तर भये कीर्तनी जनक प्रकाश ॥
 द्रुम शायी रमयुक्त मृदु फल अरु यदरल दानि ।
 दृष्टि फल धरणी मयी समुक्त लागत ग्लानि ॥
 जानि यथास्थिति इन सदैव नर युग नरन निर्धान ।
 उदर दिग्वाचन मान हति फलत येन अति दीन ॥
 या दिन कीं जीव्यो नवदि करो न पट्ट विचार ।
 युक्ति मृत फल फल की अथ न जानु आधार ॥
 प्रातःकाल रविकिरण सम कोमल लाले पान ।
 कर शरणा अरु चनु नही नई प्रल श्रवण ॥
 शनि व्याकुल अपिरेह नैं जे नर निरप प्रमात ।
 तिनकर कर्तु नामैं नूनि न उत सुनात ॥
 प्रतिदन अति धन पत्तनि द्याये तरुवरचन्द ।
 हाचकन फल सब काल में देत तेन आनंद ॥
 राम राम मरिता निकट नशुर सुशोतल वारि ।
 येति मृदुल कोमल नवल कोजै सेज सँवारि ॥
 तज नीच जन धन हित जाय धनीन दुवार ।
 भोगत यद् संताप अरु सहत फलेम अपार ॥
 शैल शिला विस्तीर्ण शित शय्या सुखद बनाय ।
 धरत ध्यान तय शुद्धचित्त कानन काम नमाय ॥
 अपनो-अपनो कर गये जे दिन मागत ग्यात ।
 हँमि आचन तय सुमिरि तिन सकल गात पुलकान ॥
 योगेश्वर निज योगवत्त समदर्शी मय काल ।
 चिदानंद चिंतन चतुर परत न मायाजाल ॥
 जिन मन मन अरपन कियो रहे ज्ञान महँ पूरि ।
 तिन चरणन की रेणुका मेरी जीवन-मूरि ॥

कंदादिक शैलादिजन कोभी भई विनाश
 की निरिवर निरुक्त भये कोन्ही जनक प्रकाश ॥
 द्रुम शायी रसयुक्त मृदु फल अरु पदरत्न दानि ।
 दृष्टि फल धरणी रम्यी समुक्त लागत ग्लानि ॥
 तानि नगास्थिति धन सदैव नर युग नयन पिछान ।
 उदर दिग्वापन मान हृति फलत येन अति दीन ॥
 या दिन कीं जीव्यो नवदि करो न पट्ट विचार ।
 नृत्ति मृग फल फल की घब न जानु अवार ॥
 प्रातःकाल रविकिरण मन कोमल लाले पान ।
 कर शरपा अरु धनु नहीं मही प्रल दूरवान ॥
 अति व्याकुल अविरेक नैं जे नर निश्य प्रमात ।
 तिनकर कबहुँ नामहुँ मूर्ति न उरै सुनात ॥
 प्रतिपन अति धन पदवनि द्याये तरवारचन्द्र ।
 हाचकृत फल सब काल में देत तेन आनंद ॥
 राम राम सरिता निकट मधुर सुशोतल घारि ।
 येहि मृदुल कोमल नयन कोजै सेज सँवारि ॥
 तऊ नीच जन धन हित गाय धनीन दुवार ।
 भोगत यह संताप अरु सहत फलेस अपार ॥
 शैल शिला विस्तीर्ण शित शय्या सुखद बनाय ।
 धरत ध्यान तय शुद्धचित्त कानन काम नमाय ॥
 अपनो-अपनो कर गये जे दिन मागत ग्यात ।
 हँसि आचत तय सुमिरि तिन सकल गात पुत्तकान ॥
 योगेश्वर निज योगवल समदर्शी सब काल ।
 चिदानंद चिंतन चतुर परत न मायाजाल ॥
 जिन तन मन अरपन कियो रहे ज्ञान महँ पूरि ।
 तिन चरणन की रेणुका मेरी जीवन-मूरि ॥

नहीं रह गया है। फलतः उन्होंने प्रजभाषा को छोड़ कर खड़ी बोली में कविता करना आरंभ कर दिया। खड़ी बोली की उनकी पहली कविता 'बलीवर्द' नाम की है। यह १६ आक्टोबर सन् १९०० में 'श्रीवेङ्कटेश्वर-समाचार' में छपी थी। तब वे काँसा में जी० आई० पी० रेलवे के दफ्तर में काम करते थे। उनकी रचनायें 'भारत-मित्र', 'हिंदी-वैगवामी' आदि तत्कालीन पत्रों में प्रकाशित हुआ करती थी। 'सरस्वती' के प्रकाशित होने पर उन्होंने उसमें भी छपने को अपनी रचनायें भेजीं। 'द्रौपदी-वचन-वाण-वर्त्ता' (किरातार्जुनीय के प्रथम सर्गान्तर्गत युधिष्ठिर से द्रौपदी की उक्ति)-जीर्णक उनकी कविता 'सरस्वती' (नवम्बर १९००) में छपी थी। इसके लगभग तीन वर्ष पहले (१२ दिसंबर सन् १८९९ में) उन्होंने 'सोम-सप्तक' नामक कविता लिखी थी, जिसमें पाठक जी की कोमल-कांत-पदावली, भाषा की नकाई, उक्तियों की सुन्दर तथा मार्मिक व्यंजना और काव्य-साधुर्ग्य पर मुग्ध होकर द्विवेदी जी ने उन्हें गीतगोविंद के रचयिता 'जयदेव' का अवतार और खड़ी बोली के आधुनिक प्रगति-युग का आद्याचार्य माना था। इस 'सप्तक' से हमें द्विवेदी जी की मनोवृत्ति का भी पता लग जाता है; क्योंकि खड़ी बोली की दीन-हीन दशा का चित्र खींचते हुए उन्होंने पाठक जी से इस कलंक को धोने की प्रार्थना की थी।

'सरस्वती' के संपादक होने के बाद उन्होंने स्वयं इस कमी को दूर करने का प्रयत्न किया और अन्य कवियों को भी खड़ी बोली में ही कविता करने के लिए प्रोत्साहन दिया। उनकी फुटकर कविताओं का पहला संग्रह 'काव्य-मंजूषा' के नाम से १९०३ में प्रकाशित हुआ था। उसमें सन् १८९५ से १९०२ तक की ३३ रचनायें—१६ ब्रजभाषा की, ८ संस्कृत की और ९ खड़ी

नहीं रह गया है। फलतः उन्होंने ब्रजभाषा को छोड़ कर खड़ी बोली में कविता करना आरंभ कर दिया। खड़ी बोली की उनकी पहली कविता 'बलीवर्द' नाम की है। यह १६ 'आक्टोबर' सन १९०० में 'श्रीवेङ्कटेश्वर-समानार' में छपी थी। तब वे काँसा में जी० आई० पी० रेलवे के दफ्तर में काम करते थे। उनकी रचनायें 'भारत-मित्र', 'हिंदी-वंगवामो' आदि तत्कालीन पत्रों में प्रकाशित हुआ करती थीं। 'सरस्वती' के प्रकाशित होने पर उन्होंने उसमें भी अपने को अपनी रचनायें भेजीं। 'द्रौपदी-वचन-वाण-वली' (किरातार्जुनीय के प्रथम सर्गान्तर्गत युधिष्ठिर से द्रौपदी को उक्ति)-शीर्षक उनकी कविता 'सरस्वती' (नवम्बर १९००) में छपी थी। इसके लगभग तीन वर्ष पहले (१२ दिसंबर सन १८९६ में) उन्होंने 'सोमर-सप्तक' नामक कविता लिखी थी, जिसमें पाठक जी का कोमल-कांत-पदावली, भाषा की मकतई, उक्तियों की सुन्दर तथा मार्मिक व्यंजना और काव्य-माधुर्य पर मुग्ध होकर द्विवेदी जी ने उन्हें गीतगोविंद के रचयिता 'जयदेव' का अवतार और खड़ी बोली के आधुनिक प्रगति-युग का आद्याचार्य माना था। इस 'सप्तक' से हमें द्विवेदी जी की मनोवृत्ति का भी पता लग जाता है; क्योंकि खड़ी बोली की दीन-हीन दशा का चित्र खींचते हुए उन्होंने पाठक जी से इस कलंक को धोने की प्रार्थना की थी।

'सरस्वती' के संपादक होने के बाद उन्होंने स्वयं इस कमी को दूर करने का प्रयत्न किया और अन्य कवियों को भी खड़ी बोली में ही कविता करने के लिए प्रोत्साहन दिया। उनकी फुटकर कविताओं का पहला संग्रह 'काव्य-मंजूषा' के नाम से १९०३ में प्रकाशित हुआ था। उसमें सन् १८९५ से १९०२ तक की ३३ रचनायें—१६ ब्रजभाषा की, ८ संस्कृत की और ६ खड़ी

मेरे समीप आरि नर नगरी
मिथानिधनं मृत्युर्वर्तमानं
प्राप्यं तु मीयन्तिवः । विराटु-
धर्मिणि विराटवत्त उदरवत्तः

—तत्त्वती

स्वर्गीय पंडित पद्मसिंह शर्मा की मृत्यु से एक सप्ताह २१ जुलाई, सन १९३२ को उन्होंने दो श्लोक लिखे थे। वे शायद १९३२ के 'विज्ञान-मार्ग' के 'ज्योतिष-प्रकाश' के शुभश्रुति पर प्रकाशित हुए थे। श्लोक इस प्रकार हैं—

जाते दिवं गतिं सुखदं तस्मिन्
नरिवं वा रम्यं तस्मिन् न मर्ये ।

क्याहं भवादशमनन्तप्रतिज्ञं
प्राप्ते हनेन विधिना बहुमतिने ॥

× × × ×

संस्तुय नेश्च गच्छन्तं यथाकजापं
समं यदाभि हृदयं शतधा प्रयाति ।
शान्तं निर्गतं तस्मै नमो नमो नमो
त्वामभिधी गच्छन्तं विनिश्चिनोमि ॥

एक पत्र पर श्लोक में दी हुई उनकी मम्मति इस प्रकार है—

सुरेश्वरः श्रीभगवाननन्तः सुरेश्वरिण्य गजस्तनोषु ।
यस्य प्रसादाप्रकटोद्यभूत पत्रं प्रशस्तं च कुमारनाम ।

द्विवेदी जी की उक्त कवितायें किन्तु कोटि की हैं, हिन्दी-साहित्य में उनको कोई स्थान दिया जा सकता है या नहीं, दूसरों के विचार उनकी कविता के संबंध में क्या रहे हैं, आदि की विवेचना करने के पहले हम विषय, भाषा और छंद-विषयक

ऐसा ही विषय द्विवेदी जी को पसंद था और उसी प्रकार के भावों को व्यक्त करनेवाले वावू मैथिलीशरण गुप्त का वे आदर करते थे। उनकी 'भारत-भारती' का उन्होंने हृदय से अभिनन्दन किया था। साथ ही समाज में प्रचलित अन्य कुरीतियों का चित्र खींचकर उन्हें दूर कराने का भी उन्होंने प्रयत्न किया। ऐसी कविताओं के लिए व्यंग्य की आवश्यकता होती है। इसका एक उदाहरण यहाँ हम देते हैं। कान्यकुब्ज ब्राह्मणों का एक 'कनौजिया सम्मेलन' सन् १९०५ में होली के दिनों में हुआ था। इसमें द्विवेदी जी ने ठहरौनी की निंदा करते हुए एक मजाक किया था—

झरा देर के लिए समझिए थाप पोडशी काँरी हैं,
 क्षमा कीजिए असभ्यता यह, हम ग्रामीण अनारी हैं।
 मान लीजिए, नेत्र आपके बानों तक गढ़ आये हैं,
 पीन पयोधर देख आपके कुंजर कुंभ लजाये हैं।

साहित्य-क्षेत्र में धाँधली मचानेवाले ग्रंथकारों की खबर लेने के लिए उन्होंने 'ग्रंथकार-लक्षण' शीर्षक एक कविता लिखी थी, जो 'सरस्वती' (भा० २, सं० ८) में छपी थी। इसका कुछ अंश यों है—

हृधर-उधर से जोड़ बटोर
 लिखते हैं जो तोड़-मरोड़

इस प्रदेश में वे ही पूरे ग्रंथकार कहलाते हैं।

'विधि-विडम्बना'-शीर्षक कविता में एक स्थल पर उन्होंने लिखा है—

शुद्धाशुद्ध शब्द तक का है जिनको नहीं विचार।
 लिखावाता है उनके कर से नये-नये अल्लवार ॥

ऐसा ही विषय द्विवेदी जी को पसंद था और इसी प्रकार के भावों को व्यक्त करनेवाले वावू मैथिलीशरण गुप्त का ये आदर करते थे। उनकी 'भारत-भारती' का उन्होंने हृदय से अभिनन्दन किया था। साथ ही समाज में प्रचलित अन्य कुरीतियों का चित्र खींचकर उन्हें दूर कराने का भी उन्होंने प्रयत्न किया। ऐसी कविताओं के लिए व्यंग्य की आवश्यकता होती है। इसका एक उदाहरण यहाँ हम देते हैं। कान्यकुब्ज ब्राह्मणों का एक 'कनौजिया सम्मेलन' सन् १९०५ में होली के दिनों में हुआ था। इसमें द्विवेदी जी ने ठहरौनी की निंदा करते हुए एक मजाक किया था—

ज़रा देर के लिए समझिए थाप षोडशी काँरी हैं,
क्षमा कीजिए असभ्यता यह, हम ग्रामीण अनारी हैं।
मान लीजिए, नेत्र आपके बगनों तक गढ़ आये हैं,
पीन पयोधर देख आपके कुंजर कुंभ लजाये हैं।

साहित्य-क्षेत्र में धाँधली मचानेवाले ग्रंथकारों की खबर लेने के लिए उन्होंने 'ग्रंथकार-लक्षण' शीर्षक एक कविता लिखी थी, जो 'सरस्वती' (भा० २, सं० ५) में छपी थी। इसका कुछ अंश यों है—

इधर-उधर से जोड़ बटोर
लिखते हैं जो तोड़-मरोड़

इस प्रदेश में वे ही पूरे ग्रंथकार कहलाते हैं।

'विधि-विडम्बना'-शीर्षक कविता में एक स्थल पर उन्होंने लिखा है—

शुद्धाशुद्ध शब्द तक का है जिनको नहीं विचार।
लिखवाता है उनके कर से नये-नये अखबार ॥

सुरभ्यता ही जमनीन काँति है;

अदृश्य आत्मा रम है मयेहरे।

शरीर तेरा सब शब्दभाष्य है;

नितांत निष्कर्ष वही, यही, यही।

ऊपर कहा गया है कि आरंभ में द्विवेदी जी ब्रजभाषा में कविता किया करते थे; बाद में उन्होंने खड़ी बोली को अपना लिया। पर खड़ी बोली की उनकी प्रारंभिक कविताओं से स्वर्गीय पंडित श्रीधर पाठक जी तथा स्वर्गीय पंडित नाथूराम शंकर जी की रचनाओं में कहीं कहीं ब्रजभाषा की पुट मिलती है। किसी सीमा तक यह स्वाभाविक भी था। द्विवेदी जी तब संस्कृत-कवियों का अध्ययन कर रहे थे। इसका भी उनके विचारों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। यहाँ उनकी उम्र समय की एक कविता उदाहरणार्थ दी जाती है। विषय पर संस्कृत-साहित्य के दार्शनिक विचारों का स्पष्ट प्रभाव है। और भाषा—

क्या वस्तु मृत्यु ? जिसके भय से विचारे।

होते प्रकंप परिपूर्ण मनुष्य सारे।

क्या वह्नि है ? विणिख है ? अहि है विपारी ?

किंवा विशाल-तम-तोम द्वांगधारी ?

पृथ्वी - समुद्र - सरिता - नर - नाग - सृष्टि;

मांगल्य - मूल - मय वारिद् वारिवृष्टि।

कर्तार कौन इनका ? किस हेतु नाना—

व्यापार - भार सहता - रहता महाना ?

विस्तीर्ण विश्व रच लाभ न जो उठाता;

स्रष्टा समर्थ फिर क्यों उसको बनाता ?

जो हानि-लाभ कुछ भी उसको न होता;

तो मूल्यवान् फिर क्यों निज काल खाता ?

सुरन्दता ही जमनीन कान्ति है;

अमृत्य आत्मा रस है मणोहरे ।

शरीर तेरा सब शब्दमय है;

नितांत निष्कर्षा यही, यही, यही ।

ऊपर कहा गया है कि आरंभ में द्विवेदी जी ब्रजभापा से कविता किया करते थे; बाद में उन्होंने खड़ी बोली को अपना लिया । पर खड़ी बोली की उनकी प्रारंभिक कविताओं से स्वर्गीय पंडित श्रीधर पाठक जी तथा स्वर्गीय पंडित नाथूराम शंकर जी की रचनाओं में कहीं कहीं ब्रजभापा की पुट मिलती है । किसी सीमा तक यह स्वाभाविक भी था । द्विवेदी जी तब संस्कृत-कवियों का अध्ययन कर रहे थे । इसका भी उनके विचारों पर बड़ा प्रभाव पड़ा । यहाँ उनकी उन समय की एक कविता उदाहरणार्थ दी जाती है । विषय पर संस्कृत-साहित्य के दार्शनिक विचारों का स्पष्ट प्रभाव है । और भापा—

क्या वस्तु मृत्यु ? जिसके भय से विचारे ।

होते प्रकंप परिपूर्ण मनुष्य सारे ।

क्या वहि है ? विणिख है ? अहि है विपारी ?

किंवा विशाल-तम-तोम द्वांगधारी ?

पृथ्वी - समुद्र - सरिता - नर - नाग - सृष्टि;

मांगल्य - मूल - मय वारिद वारिवृष्टि ।

कर्तार कौन इनका ? किस हेतु नाना—

व्यापार - भार सहता - रहता महाना ?

विस्तीर्ण विश्व रच लाभ न जो उठाता;

स्रष्टा समर्थ फिर क्यों उसको बनाता ?

जो हानि-लाभ कुछ भी उसको न होता;

तो मूल्यवान् फिर क्यों निज काल खोता ?

तपोबली छत्रों के ऊपर राज व्यर्थ हो जाता है,
मेरा तू प्रमोद सागर है, राश कहीं तू जाता है।

भाषा की शुद्धता के बाद भाषा की सरलता का प्रश्न उपस्थित हुआ। पहले लोग खड़ी बोली में कविता करनेवालों का ही विरोध करते थे। पर अब खड़ी बोली का स्तर बढ़ने लगा और बहुतों ने ब्रजभाषा को छोड़कर इसमें कविता करना शुरू कर दिया तब लोगों ने यह भगड़ा उठाया कि कविता की भाषा सरल हो या क्लिष्ट। द्विवेदी जी के समयकालीन बहुत-से विद्वान् क्लिष्ट भाषा के पक्षपाती थे। आरंभ की द्विवेदी जी की कविताओं की भाषा भी क्लिष्ट ही है; इसके दो-गक उदाहरण 'कविता-कलाप' में भी मिलते हैं। पर कालान्तर में वे सरल* भाषा के पक्षपाती हो गये। उनका कथन था कि हिंदी के अतिरिक्त सभी उन्नत भाषाओं में गद्य और पद्य, दोनों की भाषा एक ही है। अतः हमारा कर्तव्य भी यही है कि अन्य सभ्य समाजों की तरह जिस भाषा में गद्य लिखा जाता है उसी में कविता भी करें। दूसरा कारण यह भी था कि द्विवेदी जी हिंदी-भाषा को सरल बनाकर उसका प्रचार-प्रसार बढ़ाना चाहते थे। यहाँ 'कविता-कलाप' से उनकी बोलचाल की भाषा की कविता का एक नमूना दिया जाता है—

* बुनते हैं, उनका मन में उस समय त्रिनियम वर्डस्वर्थ का यह पुराना सिद्धान्त भी कुछ जम गया था कि गद्य और पद्य का विन्यास एक ही प्रकार का होना चाहिए। वर्डस्वर्थ अपने इस सिद्धान्त पर स्थिर न रह सका, कालान्तर में उसका यह सिद्धान्त असंगत सिद्ध हुआ—उत्कृष्ट कविताओं में उसका पालन न किया जा सका। द्विवेदी जी ने भी बराबर उक्त सिद्धान्त के अनुकूल रचना नहीं की है। अपनी कविता में अनुप्रास व कोमलकांतपदावली का व्यवहार उन्होंने किया है।—

द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ की प्रस्तावना

तपोवती दुर्गाओं के अपर रज व्यर्थ हो जाता है,
मेरा वृद्धमोक्ष साधक है, यही कहीं तू जाता है।

भाषा की शुद्धता के बाद भाषा की सागुनता का प्रश्न उपस्थित हुआ। पहले लोग खड़ी बोली में काव्यता करनेवालों का ही विरोध करते थे। पर अब खड़ी बोली का प्रचार बढ़ने लगा और बहुतों ने ब्रजभाषा को छोड़कर दूसरे में कविता करना शुरू कर दिया तब लोगों ने यह भगड़ा उठाया कि कविता की भाषा सरल हो या क्लिष्ट! द्विवेदी जी के ससकालीन बहुत-से विद्वान् क्लिष्ट भाषा के पक्षपाती थे। आरंभ की द्विवेदी जी की कविताओं की भाषा भी क्लिष्ट ही है; इसके दो-एक उदाहरण 'कविता-कलाप' में भी मिलते हैं। पर कालान्तर में वे सरल* भाषा के पक्षपाती हो गये। उनका कथन था कि हिंदी के अतिरिक्त सभी उन्नत भाषाओं में गद्य और पद्य, दोनों की भाषा एक ही है। अतः हमारा कर्तव्य भी यही है कि अन्य सभ्य समाजों की तरह जिस भाषा में गद्य लिखा जाता है उसी में कविता भी करें। दूसरा कारण यह भी था कि द्विवेदी जी हिंदी-भाषा को सरल बनाकर उसका प्रचार-प्रसार बढ़ाना चाहते थे। यहाँ 'कविता-कलाप' से उनकी बोलचाल की भाषा की कविता का एक नमूना दिया जाता है—

* बुनते हैं, उनके मन में उस समय त्रिनियम वर्डस्वर्थ का यह पुराना सिद्धान्त भी कुछ जम गया था कि गद्य और पद्य का विन्यास एक ही प्रकार का होना चाहिए। वर्डस्वर्थ अपने इस सिद्धान्त पर स्थिर न रह सका, कालान्तर में उसका यह सिद्धान्त असंगत सिद्ध हुआ—उत्कृष्ट कविताओं में उसका पालन न किया जा सका। द्विवेदी जी ने भी बराबर उक्त सिद्धान्त के अनुकूल रचना नहीं की है। अपनी कविता में अनुप्रास व कोमलकांतपदावली का व्यवहार उन्होंने किया है।—

द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ की प्रस्तावना

वस्तुतः हुआ भी ऐसा ही। पहले तो लोग द्विवेदी जी की बातों का विरोध करते रहे; पर अंत में उन्होंने उनका कहना मान लिया। यह बात उन्होंने स्वसम्पादित 'कविता-कलाप' की भूमिका में, २ फरवरी, १९०६ में लिखी है—

“किसी-किसी की राय है कि बोल-चाल की भाषा में अच्छी कविता नहीं हो सकती। पर इस पुस्तक में अधिकांश कवितायें बोल-चाल की भाषा में हैं और उनमें शब्दों का अंग-भंग बहुत कम हुआ है। इस नये ढंग की कवितायें 'सरस्वती' में प्रकाशित होते देख बहुत लोग अब इनकी नक़ल अधिकता से करने लगे हैं।”

द्विवेदी जी के इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि वे ब्रजभाषा या अन्य भाषा की कवितायों का आदर नहीं करते थे। संस्कृत की कविता का तो उन्होंने अनुवाद किया ही है; ब्रजभाषा और उर्दू की कविता का भी वे आदर करते थे। इस कथन की पुष्टि उनके इस वाक्य से होती है—

“कविता यदि सरस और भावमयी है तो उसका अवश्य आदर होगा—भाषा उसकी चाहे ब्रज भी हो चाहे उर्दू।”

—सरस्वती (१५-४-२२८)

साहित्य-सेवा में पदार्पण करने के पहले, विद्यार्थी की हैसियत से, द्विवेदी जी कुछ दिनों तक बंबई की ओर रहे थे। वहाँ उनका परिचय मराठी-भाषा से हुआ था। उन्होंने उसका थोड़ा-बहुत अध्ययन किया। इस भाषा के साहित्य से वे बड़े प्रभावित हुए। मराठी-कविता में संस्कृत के छंदों का अधिकतर व्यवहार होता है। द्विवेदी जी संस्कृत के प्रियार्थी थे और उसके कवियों की सरस और मनोहर उक्तियों का आनंद ले

वस्तुतः हुआ भी ऐसा ही। पहले तो लोग द्विवेदी जी की बातों का विरोध करते रहे; पर अंत में उन्होंने उनका कहना मान लिया। यह बात उन्होंने स्वसम्पादित 'कविता-कलाप' की भूमिका में, २ फरवरी, १९०६ में लिखी है—

“किसी-किसी की राय है कि बोल-चाल की भाषा में अच्छी कविता नहीं हो सकती। पर इस पुस्तक में अधिकांश कवितायें बोल-चाल की भाषा में हैं और उनमें शब्दों का अंग-भंग बहुत कम हुआ है। इस नये ढंग की कवितायें 'सरस्वती' में प्रकाशित होते देख बहुत लोग अब इनकी नक़ल अधिकता से करने लगे हैं।”

द्विवेदी जी के इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि वे ब्रजभाषा या अन्य भाषा की कविताओं का आदर नहीं करते थे। संस्कृत की कविता का तो उन्होंने अनुवाद किया ही है; ब्रजभाषा और उर्दू की कविता का भी वे आदर करते थे। इस कथन की पुष्टि उनके इस वाक्य से होती है—

“कविता यदि सरस और भावमयी है तो उसका अवश्य आदर होगा—भाषा उसकी चाहे ब्रज भी हो चाहे उर्दू।”

—सरस्वती (१५-४-२२८)

साहित्य-सेवा में पदार्पण करने के पहले, विद्यार्थी की हैसियत से, द्विवेदी जी कुछ दिनों तक बंबई की ओर रहे थे। वहाँ उनका परिचय मराठी-भाषा से हुआ था। उन्होंने उसका थोड़ा-बहुत अध्ययन किया। इस भाषा के साहित्य से वे बड़े प्रभावित हुए। मराठी-कविता में संस्कृत के छंदों का अधिकतर व्यवहार होता है। द्विवेदी जी संस्कृत के प्रियार्थी थे और उसके कवियों की सरस और मनोहर उक्तियों का आनंद ले

तक पहुँचाया जाय, जिससे हिंदी का प्रचार-प्रसार बढ़े। संस्कृत-भाषा और हिंदू-संस्कृति के पक्षपाती वे थे ही। उनके इस आदर्श को दूसरों ने भी समझा और बहुतों ने संस्कृत के वृत्तों को अपना लिया।

पर द्विवेदी जी छंद को कविता का आत्मा नहीं मानते थे। उनका कथन था कि छंद कविता के लिए उसी प्रकार है, जैसा कामिनी का सौंदर्य बढ़ाने के लिए अलंकार। कुछ लोग कदा करते हैं कि विशेष छंदों का प्रयोग करने से ही कविता में माधुर्य रहता है। द्विवेदी जी ऐसे कथन का भी विरोध करते थे। वे 'अभिप्राय' के भी पक्षपाती थे। संभव है, इसका कारण उनका संस्कृत का अध्ययन हो। इस बात को उन्होंने बंग-कवि माइकेल मधुसूदन दत्त के जीवनचरित में स्वीकार किया था। उन्होंने लिखा है—

“अब इस प्रकार के (अभिप्राय) छंद बैंगला में लिखे जा सकते हैं और यही योग्यता से लिखे जा सकते हैं तथा हिंदी में भी उनका लिखा जाना संभव है। लिखनेवाला अच्छा और योग्य होना चाहिए।”

—सरस्वती (जुलाई-अगस्त, १९०३)

प्राचीन दरबारी-आलोचना-प्रणाली के पक्षपाती कविता में शुभाशुभ गणों का बहुत अधिक ध्यान रखते थे। सुनते हैं, अशुभ गणों के कविता के आरंभ में आजाने से लेखक या उनके संबंधियों को बुरा फल भुगतना पड़ता है। जिनके ऐसे विचार हैं वे छंद में एक मात्रा के भी बढ़ जाने पर हाय-तोवा-मचा देते हैं। इसका एक उदाहरण है—

पाद पीठ को शोभित करते

हुए इन्द्र ने इतने पर

तक पहुँचाया जाय, जिससे हिंदी का प्रचार-प्रसार बढ़े। संस्कृत-भाषा और हिंदू-संस्कृति के पक्षपाती वे थे ही। उनके इस आदर्श को दूसरों ने भी समझा और बहुतों ने संस्कृत के कृतों को अपना लिया।

पर द्विवेदी जी छंद को कविता की आत्मा नहीं मानते थे। उनका कथन था कि छंद कविता के लिए उसी प्रकार है, जैसा कामिनी का सौंदर्य बढ़ाने के लिए अलंकार। कुछ लोग कदा करते हैं कि विशेष छंदों का प्रयोग करने से ही कविता में माधुर्य रहता है। द्विवेदी जी ऐसे कथन का भी विरोध करते थे। वे 'अभिप्राय' के भी पक्षपाती थे। संभव है, इसका कारण उनका संस्कृत का अध्ययन हो। इस बात को उन्होंने बंग-कवि माइकेल मधुसूदन दत्त के जीवनचरित में स्वीकार किया था। उन्होंने लिखा है—

“जय इस प्रकार के (अभिप्राय) छंद बैंगला में लिखे जा सकते हैं और बड़ी योग्यता से लिखे जा सकते हैं तब हिंदी में भी उनका लिखा जाना संभव है। लिखनेवाला अच्छा और योग्य होना चाहिए।”

—सरस्वती (जुलाई-अगस्त, १९०३)

प्राचीन दरबारी-आलोचना-प्रणाली के पक्षपाती कविता में शुभाशुभ गणों का बहुत अधिक ध्यान रखते थे। सुनते हैं, अशुभ गणों के कविता के आरंभ में आजाने से लेखक या उनके संबंधियों को बुरा फल भुगतना पड़ता है। जिनके ऐसे विचार हैं वे छंद में एक मात्रा के भी बढ़ जाने पर हाय-तोवा-मचा देते हैं। इसका एक उदाहरण है—

पाद पीठ को शोभित करते

हुए इन्द्र ने इतने पर

Sanskrit in Hindi. Above all it is certain and admitted by all connected with Hindi Literature that *you have shown a path*, quite new and better to the present generation of Hindi writers.

—Baij Nath Gyani Dutt

संस्कृत-कविता के प्रेमी संस्कृत-वृत्तों को हिंदी में प्रचलित होते देखकर बड़े प्रसन्न हुए। श्री राधाचरण गोस्वामी भी ऐसे ही व्यक्तियों में से थे। वे वैजनाथ ज्ञानीदत्त जी से भी आगे चढ़ गये। अपने पत्र के साथ, द्विवेदी जी की प्रशंसा में, उन्होंने कई छंद लिखकर भेजे थे। उस पत्र में उन्होंने द्विवेदी जी से निवेदन करते हुए लिखा—

“आपकी सहृदयता, मर्मज्ञता, काव्यरसिकता ने मुझे आपकी स्तुति करने को प्रोत्साहित किया और विशेषतः आप वसन्ततिलका छंदों में जो कविता-रचना करते हैं, बहुत ही मधुर हैं। पर इसका आस्वादन बहुत थोड़ा मिला। कुछ विशेष कविता इन्हीं छंदों में कीजिए तो बड़ा सुख हो।

१

अहो महावीरप्रसाद भाई
जो तैं नई काव्यसुधा बहाई
पीवें तऊ तृप्ति न नेक आई
करैं कहाँ लौं तुमरी बड़ाई

२

मर्मज्ञ हो सहृदयी रसिकाग्रगण्य
हिंदीहितैषि जन तो सम नाहिं अन्य

Sanskrit in Hindi. Above all it is certain and admitted by all connected with Hindi Literature that *you have shown a path, quite new and better to the present generation of Hindi writers.*

—Baij Nath Gyani Dutt

संस्कृत-कविता के प्रेमी संस्कृत-वृत्तों को हिंदी में प्रचलित होते देखकर बड़े प्रसन्न हुए। श्री राधाचरण गोस्वामी भी ऐसे ही व्यक्तियों में से थे। वे वैजनाथ ज्ञानीदत्त जी से भी आगे बढ़ गये। अपने पत्र के साथ, द्विवेदी जी की प्रशंसा में, उन्होंने कई छंद लिखकर भेजे थे। उस पत्र में उन्होंने द्विवेदी जी से निवेदन करते हुए लिखा—

“आपकी सहृदयता, मर्मज्ञता, काव्यरसिकता ने मुझे आपकी स्तुति करने को प्रोत्साहित किया और विशेषतः आप वसन्ततिलका छंदों में जो कविता-रचना करते हैं, बहुत ही मधुर हैं। पर इसका आस्वादन बहुत थोड़ा मिला। कुछ विशेष कविता इन्हीं छंदों में कीजिए तो बड़ा सुख हो।

१

थहो महावीरप्रसाद भाई
जो तैं नई काव्यसुधा बहाई
पीवें तऊ तृप्ति न नेक आई
करैं कहाँ लौं तुमरी बड़ाई

२

मर्मज्ञ हो सहृदयी रसिकाग्रगण्य
हिंदीहितैषि जन तो सम नाहिं अन्य

[द्विवेदी जी की ७० वीं वर्षगांठ के अवसर पर आज से लगभग ६ वर्ष पहले यह लिखा गया था। लेख का कुछ अंश यों हैं—

“श्रीमान् द्विवेदी जी ने आजन्म सरस्वती की उपासना करके, प्रेमियों के सारस्वतपान कराकर ऐसा अपना लिया है कि “वसुधैव कुटुम्बकम्” होकर आप बैठ गये। आपने अनेक विषयों पर हृदयगम काव्य लिखे हैं। आपका वैशिष्ट्य यह है कि पहले हिंदी के लिए जो छंद अपरिचित थे अर्थात्—शादूल विक्रीडित, सन्ध्या, मालिनी, शिखरिणी आदि, इनमें भाषा काव्य लिखकर आपने छंदःशास्त्र की महिमा बढ़ाई है। आपकी कृति अत्यन्त सरल, सुगम व उद्बोधक है। जराबस्था को उद्देश्य कर इस नरदेह का जो ललित वर्णन करके भगवदनुग्रह की आकांक्षा प्रदर्शित की है, वह आपका काव्य हिन्दी-गगन-मण्डल में प्रतिभासंपन्न है।”

— हंस, अभिनंदनॉक (अप्रैल १९३३, पृष्ठ १३)

इन तीनों अवतरणों से एक बात बड़े महत्त्व की ज्ञात होती है। वह यह कि तीनों ही लेखकों ने द्विवेदी जी को इसी कारण इतना महत्त्व दिया है कि उन्होंने संस्कृत के छंदों का हिंदी में प्रचार किया, जैसा उनके पहले प्रायः किसी ने नहीं किया था। इन लेखकों ने न तो उनके भावों की प्रशंसा की है और न भाषा की। वास्तव में १८६० से १९०० तक की उनकी रचनायें भाषा और भाव की दृष्टि से विशेष अनुकरणीय थीं भी नहीं। उनका उद्देश्य और लक्ष्य भी निश्चित नहीं था। इसी से इस विषय के संबंध में स्वयं वैजनाथ जी ने अपने उपर्युक्त पत्र में लिखा है—

But to make your influence felt deeply it is necessary that you should lay the G...dalation

[द्विवेदी जी की ७० वीं वर्षगाँठ के अवसर पर आज से लगभग ६ वर्ष पहले यह लिखा गया था। लेख का कुछ अंश यों हैं—

“श्रीमान् द्विवेदी जी ने आजन्म सरस्वती की उपासना करके, प्रेमियों को सारस्वतपान कराकर ऐसा अपना लिया है कि “वसुधैव कुटुम्बकम्” होकर आप बैठ गये। आपने अनेक विषयों पर हृदयगम काव्य लिखे हैं। आपका वैशिष्ट्य यह है कि पहले हिंदी के लिए जो छंद अपरिचित थे अर्थात्—शादूल विक्रीडित, लम्बधरा, मालिनी, शिखरिणी आदि, इनमें भाषा काव्य लिखकर आपने छंदःशास्त्र की महिमा बढ़ाई है। आपकी कृति अत्यन्त सरल, सुगम व उद्बोधक है। जरावस्था को उद्देश्य कर इस नरदेह का जो ललित वर्णन करके भगवदनुग्रह की आकांक्षा प्रदर्शित की है, वह आपका काव्य हिन्दी-गगन-मण्डल में प्रतिभासंपन्न है।”

— हंस, अभिनंदनांक (अप्रैल १९३३, पृष्ठ १३)

इन तीनों अवतरणों से एक बात बड़े महत्त्व की ज्ञात होती है। वह यह कि तीनों ही लेखकों ने द्विवेदी जी को इसी कारण इतना महत्त्व दिया है कि उन्होंने संस्कृत के छंदों का हिंदी में प्रचार किया, जैसा उनके पहले प्रायः किसी ने नहीं किया था। इन लेखकों ने न तो उनके भावों की प्रशंसा की है और न भाषा की। वास्तव में १८६० से १९०० तक की उनकी रचनायें भाषा और भाव की दृष्टि से विशेष अनुकरणीय थीं भी नहीं। उनका उद्देश्य और लक्ष्य भी निश्चित नहीं था। इसी से इस विषय के संबंध में स्वयं वैजनाथ जी ने अपने उपर्युक्त पत्र में लिखा है—

But to make your influence felt deeply it is necessary that you should lay the G...dalation

में सफल हो सकेगा, इसमें सन्देह है । द्विवेदी जी में कल्पना की विशेष उड़ान तो नहीं थी, पर सुधार करने की सात्त्विक भावना उनमें इतनी प्रबल थी कि अवसर पाने पर वे अपने को रोक ही न पाते थे; उनका स्वभाव ही ऐसा था । वे चाहते थे कि जितने भी व्यक्तियों का उनसे संबंध है उनमें किसी प्रकार का भी अवगुण न रह जाय । 'सरस्वती' के संपादक, हिंदी-भाषा-भाषी और अंत में भारतीय होने के नाते उनका संबंध भारत के निवासियों तक ही सीमित नहीं था और वे सभी के अपना संदेश सुनाना चाहते थे । यहाँ तक कि उनके प्रायः प्रत्येक परिच्छेद में किसी न किसी प्रकार का उद्देश्य अवश्य निहित है और कविता के लिए तो प्रायः वे विषय ही ऐसा चुनते थे जिसमें उन्हें खूब उपदेश देने का अवसर प्राप्त हो सके । यही कारण है कि उनकी कवितायें काव्य-कला की कसौटी पर कसे जाने पर खरी न उतरें । उनमें अंतरंग की शोभा की अपेक्षा भाव-विन्यास का चमत्कार ही अधिक है । 'वे उपदेशप्रधान हैं, वस्तु की व्यंजना करती हैं । अंतर के तारों को झनकारती नहीं, बाहर ही ठक-ठक करके चुप हो जाती हैं ।' उनमें हृदय-स्पर्श करने की विशेष क्षमता नहीं । यों हम कह सकते हैं कि द्विवेदी जी को मुक्तक पद्यों की अपेक्षा छोटे-छोटे कथानकों में अधिक सफलता मिली है । इसके दो कारण हो सकते हैं । पहला, द्विवेदी जी की उपदेशात्मक कथानकप्रियता । उनकी कविता में भारतेन्दु हरिश्चंद्र की-सी कल्पना की कमनीय शक्ति के दर्शन नहीं होते । वास्तव में घटना का सूत्र ऐसे कवियों के लिए अत्यंत आवश्यक है जो अन्य कार्यों में संलग्न रहकर कविता के लिए भी समय निकालना चाहता है । कथानक की रोचकता ही उसकी कविता का आकर्षण रहता है । फिर मुक्तक की प्रणाली

में सफल हो सकेगा, इसमें सन्देह है । द्विवेदी जी में कल्पना की विशेष उड़ान तो नहीं थी, पर सुधार करने की सात्त्विक भावना उनमें इतनी प्रबल थी कि अवसर पाने पर वे अपने को रोक ही न पाते थे; उनका स्वभाव ही ऐसा था । वे चाहते थे कि जितने भी व्यक्तियों का उनसे संबंध है उनमें किसी प्रकार का भी अवगुण न रह जाय । 'सरस्वती' के संपादक, हिंदी-भाषा-भाषी और अंत में भारतीय होने के नाते उनका संबंध भारत के निवासियों तक ही सीमित नहीं था और वे सभी को अपना संदेश सुनाना चाहते थे । यहाँ तक कि उनके प्रायः प्रत्येक परिच्छेद में किसी न किसी प्रकार का उद्देश्य अवश्य निहित है और कविता के लिए तो प्रायः वे विषय ही ऐसा चुनते थे जिसमें उन्हें खूब उपदेश देने का अवसर प्राप्त हो सके । यही कारण है कि उनकी कवितायें काव्य-कला की कसौटी पर कसे जाने पर खरी न उतरीं । उनमें अंतरंग की शोभा की अपेक्षा भाव-विन्यास का चमत्कार ही अधिक है । 'वे उपदेशप्रधान हैं, वस्तु की व्यंजना करती हैं । अंतर के तारों को भनकाती नहीं, बाहर ही ठक-ठक करके चुप हो जाती हैं ।' उनमें हृदय-स्पर्श करने की विशेष क्षमता नहीं । यों हम कह सकते हैं कि द्विवेदी जी को मुक्तक पद्यों की अपेक्षा छोटे-छोटे कथानकों में अधिक सफलता मिली है । इसके दो कारण हो सकते हैं । पहला, द्विवेदी जी की उपदेशात्मक कथानकप्रियता । उनकी कविता में भारतेन्दु हरिश्चंद्र की-सी कल्पना की कमनीय शक्ति के दर्शन नहीं होते । वास्तव में घटना का सूत्र ऐसे कवियों के लिए अत्यंत आवश्यक है जो अन्य कार्यों में संलग्न रहकर कविता के लिए भी समय निकालना चाहता है । कथानक की रोचकता ही उसकी कविता का आकर्षण रहता है । फिर मुक्तक की प्रणाली

उसमें काव्यकला का वास्तविक जीवन-स्पंदन कहीं नहीं है” । अस्तु ।

इस विषय में द्विवेदी जी का वास्तविक महत्त्व यह है कि उनके “शुद्ध सात्त्विक आचार ने कविता के क्षेत्र को प्रभावित किया । इस क्षेत्र में उनकी मधुमे वड़ी देन खड़ी बोली, भाषा की सफाई और संस्कृतवृत्तों का प्रवेश है और सबके पीछे है वह सात्त्विक प्रेरणा, जो उनके जीवन के मूल से उच्छ्वसित होकर उनकी साहित्य-सेवा के कोने-कोने में फैल गई ।” दूसरे शब्दों में उनके व्यक्तित्व ने अपने समय के प्रायः सभी कवियों पर कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य डाला । ‘मरस्वर्ता’ में जितनी कवितायें प्रकाशित होती थीं, उन पर द्विवेदी जी की छाप स्पष्ट है । ‘कविता-कलाप’ की भूमिका में उन्होंने लिखा है—

“चित्र-कला और कविता का घनिष्ठ संबंध है । दोनों में एक प्रकार का अनेखा सादृश्य है । दोनों का नाम भिन्न-भिन्न प्रकार के दृश्यों और मनोविकारों को चित्रित करना है । जिस बात को चित्रकार चित्र द्वारा व्यक्त करता है, उसी बात को कवि कविता द्वारा व्यक्त कर सकता है । कविता भी एक प्रकार का चित्र है । कविता के श्रवण से आनंद होता है; चित्र के दर्शन से । कवि और चित्रकार में किसका आसन उच्च है इसका निर्णय करना कठिन है; क्योंकि किसी चित्र के भाव को कविता द्वारा व्यक्त करने से जिस प्रकार अलौकिक आनंद की वृद्धि होती है, उसी प्रकार के कविता-गत किसी भाव को चित्र द्वारा स्पष्ट करने से भी उसकी वृद्धि होती है । चित्र देखने से नेत्र तृप्त होते हैं, कविता पढ़ने या सुनने से कान ।”

पर विषय-संबंधी यह आदर्श और अंतःकरण को स्पर्श करनेवाली क्षमता द्विवेदी जी और उनके शिष्य-वर्ग की

उसमें काव्यकला का वास्तविक जीवन-स्पंदन कहीं नहीं है” । अस्तु ।

इस विषय में द्विवेदी जी का वास्तविक महत्त्व यह है कि उनके “शुद्ध सात्त्विक आचार ने कविता के क्षेत्र को प्रभावित किया । इस क्षेत्र में उनकी मधुरी दड़ी देन खड़ी बोली, भाषा की सफाई और संस्कृतवृत्तों का प्रवेश है और सबके पीछे है वह सात्त्विक प्रेरणा, जो उनके जीवन के मूल से उच्छ्वसित होकर उनकी साहित्य-सेवा के कोने-कोने में फैल गई ।” दूसरे शब्दों में उनके व्यक्तित्व ने अपने समय के प्रायः सभी कवियों पर कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य डाला । ‘मरस्वर्ता’ में जितनी कवितायें प्रकाशित होती थीं, उन पर द्विवेदी जी की छाप स्पष्ट है । ‘कविता-कलाप’ की भूमिका में उन्होंने लिखा है—

“चित्र-कला और कविता का घनिष्ठ संबंध है । दोनों में एक प्रकार का अनाखा सादृश्य है । दोनों का नाम भिन्न-भिन्न प्रकार के दृश्यों और मनोविकारों को चित्रित करना है । जिस बात को चित्रकार चित्र द्वारा व्यक्त करता है, उसी बात को कवि कविता द्वारा व्यक्त कर सकता है । कविता भी एक प्रकार का चित्र है । कविता के श्रवण से आनंद होता है; चित्र के दर्शन से । कवि और चित्रकार में किसका आसन उच्च है इसका निर्णय करना कठिन है; क्योंकि किसी चित्र के भाव को कविता द्वारा व्यक्त करने से जिस प्रकार अलौकिक आनंद की वृद्धि होती है, उसी प्रकार के कविता-गत किसी भाव को चित्र द्वारा स्पष्ट करने से भी उसकी वृद्धि होती है । चित्र देखने से नेत्र वृत्त होते हैं, कविता पढ़ने या सुनने से कान ।”

पर विषय-संबंधी यह आदर्श और अंतःकरण को स्पर्श करनेवाली क्षमता द्विवेदी जी और उनके शिष्य-वर्ग की

साहित्य के विस्तृत प्रांगण में स्थापित कर आचार्य महावीर-प्रसाद जी द्विवेदी ने मंत्र-पाठ-द्वारा देश के नवयुवकसमुदाय को एक अत्यंत शुभ मुहूर्त में आमंत्रित किया और उस घट में कविता की प्राण-प्रतिष्ठा की।” आज जिन सत्कवियों के द्वारा हिंदी-साहित्य के काव्य के अंग की पूर्ति हो रही है और जिन पर हमें अभिमान है वे किसी समय द्विवेदी जी के शिष्य रह चुके हैं। दूसरे शब्दों में पंडित श्रीधर पाठक की लगाई हुई जिस छोटी पौद को सींचने और अनुप्राणित करने में उन्होंने लगन और साधना से योग दिया था वही उनके जीवन के उत्तरार्द्ध-काल में पल्लवित हो गई।

साहित्य के विस्तृत प्रांगण में स्थापित कर आचार्य महावीर-प्रसाद जी द्विवेदी ने मंत्र-पाठ-द्वारा देश के नवयुवकसमुदाय को एक अत्यंत शुभ मुहूर्त में आमंत्रित किया और उस घट में कविता की प्राण-प्रतिष्ठा की।” अंज जिन सत्कवियों के द्वारा हिंदी-साहित्य के काव्य के अंग की पूर्ति हो रही है और जिन पर हमें अभिमान है वे किसी समय द्विवेदी जी के शिष्य रह चुके हैं। दूसरे शब्दों में पंडित श्रीधर पाठक की लगाई हुई जिस छोटी पौद को सींचने और अनुप्राणित करने में उन्होंने लगन और साधना से योग दिया था वही उनके जीवन के उत्तरार्द्ध-काल में पल्लवित हो गई।



और ध्यान नहीं देते और न उसके भावों को समझने की ही चेष्टा करते हैं। भाषा की क्लिष्टता और दुरुहता से, वास्तव में, लेखक की विद्वत्ता भी प्रकट नहीं होती। वास्तविक विद्वत्ता तो जन-साधारण को अपने विचारों से परिचित करा सकने में, अपना संदेश सभी तक पहुँचा सकने में, है। क्या कालिदास और तुलसीदास ऐसी रचना नहीं कर सकते थे जिसको बड़े-बड़े विद्वान् भी न समझ पाते? पर उन्होंने वैसा नहीं किया, अपनी सरल और सरस रचना के लिए ही वे आज विश्व में प्रसिद्ध हैं।

द्विवेदी जी भी इसी सिद्धांत के पक्षपाती थे। उनके प्रादुर्भाव के समय खड़ी बोली के तीन रूप मिलते थे। पहला भाषा का संस्कृतमय रूप जिसके जन्मदाता राजा लक्ष्मणसिंह समझे जाते थे। दूसरा हिंदी का वह रूप जिसमें अरबी-फारसी के शब्दों का बाहुल्य था और राजा शिवप्रसाद जिसके पक्षपाती थे। हिंदी के इस रूप का प्रचार मुसलमानों में तो था ही, हिंदुओं को भी इसे ग्रहण करना पड़ा था। तीसरे रूप के प्रदर्शक भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र थे। उनके हृदय में देश-प्रेम का स्रोत प्रवाहित हो रहा था, वे भारत की स्वतंत्रता के लिए स्वयं अनवरत परिश्रम करते थे और चाहते थे कि सभी भारतवासी इसे अपना कर्तव्य समझें। अपना यह संदेश दूसरों तक पहुँचाने के लिए उन्हें हिंदी के उस रूप का प्रचार करना पड़ा जिसे जन-साधारण सरलता से समझ सके। इसलिए उनकी भाषा में आवश्यकतानुसार भावों को स्पष्ट करने के लिए ही शब्दों का प्रयोग होता था। ये शब्द संस्कृत के भी होते थे और अरबी-फारसी के भी—कुछ अँगरेजी शब्दों का प्रयोग भी होने लगा था। सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा यही थी।

और ध्यान नहीं देते और न उसके भावों को समझने की ही चेष्टा करते हैं। भाषा की क्लिष्टता और दुरुहता से, वास्तव में, लेखक की विद्वत्ता भी प्रकट नहीं होती। वास्तविक विद्वत्ता तो जन-साधारण को अपने विचारों से परिचित करा सकने में, अपना संदेश सभी तक पहुँचा सकने में, है। क्या कालिदास और तुलसीदास ऐसी रचना नहीं कर सकते थे जिसको बड़े-बड़े विद्वान् भी न समझ पाते? पर उन्होंने वैसा नहीं किया, अपनी सरल और सरस रचना के लिए ही वे आज विश्व में प्रसिद्ध हैं।

द्विवेदी जी भी इसी सिद्धांत के पक्षपाती थे। उनके प्रादुर्भाव के समय खड़ी बोली के तीन रूप मिलते थे। पहला भाषा का संस्कृतमय रूप जिसके जन्मदाता राजा लक्ष्मणसिंह समझे जाते थे। दूसरा हिंदी का वह रूप जिसमें अरबी-फारसी के शब्दों का बाहुल्य था और राजा शिवप्रसाद जिसके पक्षपाती थे। हिंदी के इस रूप का प्रचार मुसलमानों में तो था ही, हिंदुओं को भी इसे ग्रहण करना पड़ा था। तीसरे रूप के प्रदर्शक भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र थे। उनके हृदय में देश-प्रेम का स्रोत प्रवाहित हो रहा था, वे भारत की स्वतंत्रता के लिए स्वयं अनवरत परिश्रम करते थे और चाहते थे कि सभी भारतवासी इसे अपना कर्तव्य समझें। अपना यह संदेश दूसरों तक पहुँचाने के लिए उन्हें हिंदी के उस रूप का प्रचार करना पड़ा जिसे जन-साधारण सरलता से समझ सके। इसलिए उनकी भाषा में आवश्यकतानुसार भावों को स्पष्ट करने के लिए ही शब्दों का प्रयोग होता था। ये शब्द संस्कृत के भी होते थे और अरबी-फारसी के भी—कुछ अँगरेजी शब्दों का प्रयोग भी होने लगा था। सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा यही थी।

में प्रचलित भाषा को अपनाकर अपना संदेश भारत के बच्चे-बच्चे तक पहुँचा देना चाहा। कुछ लोगों ने इसका विरोध किया; पर बहुतों ने इसे अपनाया भी। द्विवेदी जी भी ऐसे ही लोगों में थे। वे सरल से सरल भाषा लिखने के पक्ष में थे—न संस्कृत शब्दों का विरोध या वहिष्कार करते थे, न अरबी-फारसी का ही। उनका मत था कि प्रचलित शब्दों को अपना लेना ही हिंदी-भाषा-भाषियों के लिए उपयुक्त होगा, चाहे ये शब्द संस्कृत के हों, चाहे अरबी-फारसी या अँगरेजी के। इसी से उनकी भाषा में न तो संस्कृत के तत्कालीन पक्षपातियों का-सा सामासिक शब्द-जाल है और न उर्दू-लेखकों की भाषा की कलावाजियाँ या चुलबुलाहट। इनकी भाषा में सजीवता है और स्वाभाविकता भी, जिसको पढ़ कर और समझकर पाठक मुदित हो जाता है। उनकी भाषा के इस गुण पर बहुत से लोग लट्टू थे, और हैं भी। अक्टूबर सन् १९३४ के 'विशाल-भारत' में उसके संपादक पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी ने उनके एक पत्र को अपने नोट के साथ प्रकाशित किया था। यह पत्र उनके स्वभाव का द्योतक तो है ही, साथ ही, उनकी भाषा का भी नमूना है। पत्र चतुर्वेदी जी को ही लिखा गया था जो इस प्रकार है—

दौलतपुर (रायचरेली)

१४-५-३४

“नमस्कार,

११ मई का कार्ड मिला। यह जानकर बड़ी खुशी हुई कि आपके वर्मा जी मेरे पुराने मेहरबान बाबू कृष्णदास जी के भतीजे हैं।

में प्रचलित भाषा को अपनाकर अपना संदेश भारत के बच्चे-बच्चे तक पहुँचा देना चाहा। कुछ लोगों ने इसका विरोध किया; पर बहुतों ने इसे अपनाया भी। द्विवेदी जी भी ऐसे ही लोगों में थे। वे सरल से सरल भाषा लिखने के पक्ष में थे—न संस्कृत शब्दों का विरोध या वहिष्कार करते थे, न अरबी-फ़ारसी का ही। उनका मत था कि प्रचलित शब्दों को अपना लेना ही हिंदी-भाषा-भाषियों के लिए उपयुक्त होगा, चाहे ये शब्द संस्कृत के हों, चाहे अरबी-फ़ारसी या अँगरेजी के। इसी से उनकी भाषा में न तो संस्कृत के तत्कालीन पक्षपातियों का-सा सामासिक शब्द-जाल है और न उर्दू-लेखकों की भाषा की कलावाज़ियाँ या चुलबुलाहट। इनकी भाषा में सजीवता है और स्वाभाविकता भी, जिसको पढ़ कर और समझकर पाठक मुदित हो जाता है। उनकी भाषा के इस गुण पर बहुत से लोग लंदू थे, और हैं भी। अक्टूबर सन् १९३४ के 'विशाल-भारत' में उसके संपादक पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी ने उनके एक पत्र को अपने नोट के साथ प्रकाशित किया था। यह पत्र उनके स्वभाव का द्योतक तो है ही, साथ ही, उनकी भाषा का भी नमूना है। पत्र चतुर्वेदी जी को ही लिखा गया था जो इस प्रकार है—

दौलतपुर (रायगरेली)

१४-५-३४

“नमस्कार,

११ मई का कार्ड मिला। यह जानकर बड़ी खुशी हुई कि आपके वर्मा जी मेरे पुराने मेहरबान बाबू कृष्णदास जी के भतीजे हैं।

वे उसे अस्वीकार कर देते। 'श्रेष्ठ', 'श्रेष्ठतर' 'श्रेष्ठतम' और 'सर्वश्रेष्ठ' आदि के व्यवहार का उन्होंने विरोध किया। 'नोकदार नाक' के बदले 'नोकवती नासा' उन्हें नहीं रुच सकती थी। संस्कृत से एक श्रेणी नीचे का अपभ्रंश, जो हिंदी में अपना लिया जाता है, द्विवेदी जी भी अपना लेते हैं, परंतु इसके आगे वे आप नहीं बढ़ते*। यदि द्विवेदी जी पर उर्दू शब्दों को ग्रहण करने का दोष लगाया जाता था तो भी वे शांत रह कर ही दोषारोपण करनेवालों को समझाया करते थे। यह बात लगभग २० वर्ष पहले उन्होंने बाबू कालिदास जी कपूर, एम० ए०, एल० टी०, को एक पत्र में लिखी थी। पत्र यों है—

डाकखाना दौलतपुर (रायवरेली)

१५-३-१८

“महाशय,

पत्र मिला; धन्यवाद। मेरी वही राय है जो आपकी है। मैं तदनुसार वर्तान भी करता हूँ। सरल लिखने की चेष्टा करता हूँ। उर्दू भिन्न भाषा नहीं, अरबी-फ़ारसी के जो शब्द प्रचलित हैं उन्हें मैं हिंदी ही के शब्द समझता हूँ। मेरे लेख इस बात के प्रमाण हैं। पहले लोग लिखा करते थे। कहते थे कि यह हिंदी को बिगाड़ रहा है। पर अब नहीं चोड़ते। और लोग भी 'मरस्वती' का अनुकरण करने लगे हैं।

भवदीय

म० प्र० द्विवेदी^१

वे उसे अस्वीकार कर देते। 'श्रेष्ठ', 'श्रेष्ठतर' 'श्रेष्ठतम' और 'सर्वश्रेष्ठ' आदि के व्यवहार का उन्होंने विरोध किया। 'नोकदार नाक' के बदले 'नोकवती नासा' उन्हें नहीं रुच सकती थी। संस्कृत से एक श्रेणी नीचे का अपभ्रंश, जो हिंदी में अपना लिया जाता है, द्विवेदी जी भी अपना लेते हैं, परंतु इसके आगे वे आप नहीं बढ़ते। यदि द्विवेदी जी पर उर्दू शब्दों को ग्रहण करने का दोष लगाया जाता था तो भी वे शांत रह कर ही दोषारोपण करनेवालों को समझाया करते थे। यह बात लगभग २० वर्ष पहले उन्होंने वावू कालिदास जी कपूर, एम० ए०, एल० टी०, को एक पत्र में लिखी थी। पत्र यों है—

डाकखाना दौलतपुर (रायवरेली)

१५-३-१८

“महाशय,

पत्र मिला; धन्यवाद। मेरी वही राय है जो आपकी है। मैं तदनुसार वर्तान भी करता हूँ। सरल लिखने की चेष्टा करता हूँ। उर्दू भिन्न भाषा नहीं, अरबी-फ़ारसी के जो शब्द प्रचलित हैं उन्हें मैं हिंदी ही के शब्द समझता हूँ। मेरे लेख इस बात के प्रमाण हैं। पहले लोग लिखा करते थे। कहते थे कि यह हिंदी को बिगाड़ रहा है। पर अब नहीं बोलते। और लोग भी 'मरस्वती' का अनुकरण करने लगे हैं।

भवदीय

म० प्र० द्विवेदी^१

अन्य किसी राष्ट्रीय भाषण से प्रभावित होकर उसे नहीं ग्रहण किया। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे राष्ट्रीयता या भारतीयता के विरुद्ध थे; उनका पुनीत उद्देश्य यह था कि यदि भाषा को सरल बना दिया जायगा तो जनता—केवल साधारण हिंदी जाननेवाली भी—यह जान सकेगी कि आज संसार में क्या हो रहा है; उसका ज्ञान बढ़ेगा। उनका विश्वास था कि भाषा का मुख्य उद्देश्य यही है कि जन साधारण उसे समझ कर कुछ ज्ञानार्जन करे। 'सरस्वती' में (भाग १६, संख्या १ पृ० ५१) उन्होंने इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

“हिंदी में यदि कुछ लिखना हो तो भाषा ऐसी लिखनी चाहिए जिसे केवल हिंदी जाननेवाले भी सहज ही में समझ जायें। संस्कृत और अँगरेज़ी शब्दों से लदी हुई भाषा से पांडित्य चाहे भले ही प्रकट हो पर उससे ज्ञान आनंदज्ञान का उद्देश अधिक नहीं सिद्ध हो सकता।”

सन् १९२८ के अक्टूबर की 'सरस्वती' में 'भारतीय भाषाओं का अन्वेषण' शीर्षक द्विवेदी जी का एक नोट प्रकाशित हुआ था। डाक्टर ग्रियर्सन साहब ने (Sir George Abraham Grierson, K. C. I. E., Ph. D., D. Litt., L. L. D., I. C. S.—Retired—) भारत की भाषाओं और बोलियों के विषय में अन्वेषण करके १३ भागों में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की थी, उसी के विषय में द्विवेदी जी का यह नोट था। ग्रियर्सन साहब ने भारतीय भाषाओं की संख्या १७६ और बोलियों की संख्या ५४४ बताई। द्विवेदी जी ने इस विषय में कुछ नहीं कहा; पर उन्हें इसका दुःख अवश्य हुआ कि हिंदी या हिंदुस्तानी के प्रचार-प्रसार पर ग्रियर्सन साहब ने जानते हुए भी कुछ नहीं लिखा। अतः उन्होंने यह नोट दिया—

अन्य किसी राष्ट्रीय भाषण से प्रभावित होकर उसे नहीं ग्रहण किया। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे राष्ट्रीयता या भारतीयता के विरुद्ध थे; उनका पुनीत उद्देश्य यह था कि यदि भाषा को सरल बना दिया जायगा तो जनता—केवल साधारण हिंदी जाननेवाली भी—यह जान सकेगी कि आज संसार में क्या हो रहा है; उसका ज्ञान बढ़ेगा। उनका विश्वास था कि भाषा का मुख्य उद्देश्य यही है कि जन साधारण उसे समझ कर कुछ ज्ञानार्जन करे। 'सरस्वती' में (भाग १६, संख्या १ पृ० ५१) उन्होंने इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

“हिंदी में यदि कुछ लिखना हो तो भाषा ऐसी लिखनी चाहिए जिसे केवल हिंदी जाननेवाले भी सहज ही में समझ जायें। संस्कृत और अँगरेज़ी शब्दों से लदी हुई भाषा से पांडित्य चाहे भले ही प्रकट हो पर उससे ज्ञान आनंदज्ञान का उद्देश अधिक नहीं सिद्ध हो सकता।”

सन् १९२८ के अक्टूबर की 'सरस्वती' में 'भारतीय भाषाओं का अन्वेषण' शीर्षक द्विवेदी जी का एक नोट प्रकाशित हुआ था। डाक्टर ग्रियर्सन साहब ने (Sir George Abraham Grierson, K. C. I. E., Ph. D., D. Litt., L. L. D., I. C. S.—Retired—) भारत की भाषाओं और बोलियों के विषय में अन्वेषण करके १३ भागों में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की थी, उसी के विषय में द्विवेदी जी का यह नोट था। ग्रियर्सन साहब ने भारतीय भाषाओं की संख्या १७६ और बोलियों की संख्या ५४४ बताई। द्विवेदी जी ने इस विषय में कुछ नहीं कहा; पर उन्हें इसका दुःख अवश्य हुआ कि हिंदी या हिंदुस्तानी के प्रचार-प्रसार पर ग्रियर्सन साहब ने जानते हुए भी कुछ नहीं लिखा। अतः उन्होंने यह नोट दिया—

“जिस तरह शब्दों के प्रयोग और व्यवहार के साधन पदार्थों की आवश्यकता होती है, वैसे ही सजीव भाषाओं की वाद के लिए विदेशी शब्दों और भावों के संग्रह की आवश्यकता होती है। जो भाषा ऐसा नहीं करती या जिसमें ऐसा होता बंद हो जाता है, वह उपवास-सी करती हुई, किसी दिन मुर्दा नहीं तो निर्जीव-सी ज़रूर हो जाती है। दूसरी भाषाओं के शब्दों और भावों के ग्रहण करने की शक्ति रहना ही सजीवता का लक्षण है और जीवित भाषाओं का यह स्वभाव, प्रयत्न करने पर ही, परित्यक्त नहीं हो सकता।”

यहाँ तक वे परोक्ष रूप में—भूमिका के ढंग पर—अपने उद्देश्य से पाठकों को परिचित कराते रहे, पर फिर अपने को रोक न सके और मातृभाषा हिंदी के प्रेम के आदेश में कह चले—

“हमारी हिंदी सजीव भाषा है। इसी से, संपर्क के प्रभाव में उसने अरबी-फ़ारसी और तुर्की भाषाओं तक के शब्द ग्रहण कर लिये हैं और अब अँगरेज़ी भाषा के भी शब्द ग्रहण करनी जा रही है। इसे दोष नहीं गुण ही समझना चाहिए। क्योंकि अपनी इस ग्राहिका-शक्ति के प्रभाव से हिंदी अपनी वृद्धि ही कर रही है, ह्रास नहीं। ज्यों-ज्यों उसका प्रचार बढ़ेगा त्यों-त्यों उसमें नये-नये शब्दों का आगमन होता जायगा। हमें केवल यह देखते रहना चाहिए कि इस संमिश्रण के कारण कहीं हमारी भाषा अपनी विशेषता को खो तो नहीं रही है—कहीं बीच-बीच में अन्य भाषाओं के बेमेल शब्दों के योग से वह अपना रूप विकृत तो नहीं कर रही है।”

जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, हिंदी की ग्राहिका-शक्ति के विषय में जनता का ध्यान आकर्षित करने और सरल भाषा

“जिस तरह शब्दों के प्रयोग और उद्यम के लिए वादों के साथ प्रदार्थों की आवश्यकता होती है, वैसे ही सजीव भाषाओं का वाद के लिए विदेशी शब्दों और भावों के संग्रह की आवश्यकता होती है। जो भाषा ऐसा नहीं करती या जिसमें ऐसा होना बंद हो जाता है, वह उपवास-सी करती हुई, किसी दिन मुर्दा नहीं तो निर्जीव-सी जरूर हो जाती है। दूसरी भाषाओं के शब्दों और भावों के ग्रहण कर लेने की शक्ति रहना ही सजीवता का लक्षण है और जीवित भाषाओं का यह स्वभाव, प्रयत्न करने पर ही, परित्यक्त नहीं हो सकता।”

यहाँ तक वे परोक्ष रूप में—भूमिका के ढंग पर—अपने उद्देश्य से पाठकों को परिचित कराते रहे, पर फिर अपने को रोक न सके और मातृभाषा हिंदी के प्रेम के आग्रह में कह चले—

“हमारी हिंदी सजीव भाषा है। इसी से, संपर्क के प्रभाव में उसने अरबी-फारसी और तुर्की भाषाओं तक के शब्द ग्रहण कर लिये हैं और अब अंगरेज़ी भाषा के भी शब्द ग्रहण करती जा रही है। इसे दोष नहीं गुण ही समझना चाहिए। क्योंकि अपनी इस ग्राहिका-शक्ति के प्रभाव से हिंदी अपनी वृद्धि ही कर रही है, हानि नहीं। ज्यों-ज्यों उसका प्रचार बढ़ेगा त्यों-त्यों उसमें नये-नये शब्दों का आगमन होता जायगा। हमें केवल यह देखते रहना चाहिए कि इस संमिश्रण के कारण कहीं हमारी भाषा अपनी विशेषता को खो तो नहीं रही है—कहीं बीच-बीच में अन्य भाषाओं के बेमेल शब्दों के योग से वह अपना रूप विकृत तो नहीं कर रही है।”

जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, हिंदी की ग्राहिका-शक्ति के विषय में जनता का ध्यान आकर्षित करने और सरल भाषा

प्रचार के लिए भी सभी सुदूर प्रांतों में लोग संलग्न हैं। हिंदी को राष्ट्रभाषा समझा जाने लगा है और प्रायः सभी इस बात को स्वीकार भी करने लगे हैं। इसका श्रेय द्विवेदी जी के अतिरिक्त किसे दिया जाय ? हिंदी-भाषा के विशाल और विस्तृत साम्राज्य की नींव डालनेवाला इनके अतिरिक्त हम किसे कह सकते हैं ?

प्रचार के लिए भी सभी सुदूर प्रांतों में लोग संलग्न हैं। हिंदी को राष्ट्रभाषा समझा जाने लगा है और प्रायः सभी इस बात को स्वीकार भी करने लगे हैं। इसका श्रेय द्विवेदी जी के अतिरिक्त किसे दिया जाय ? हिंदी-भाषा के विशाल और विस्तृत साम्राज्य की नींव डालनेवाला इनके अतिरिक्त हम किसे कह सकते हैं ?

हो सकती हैं; लेकिन ऐसा होता नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक प्रिय विषय होता है और उसी के अनुसार उसकी एक निजी शैली रहती है। द्विवेदी जी इस नियम के अपवाद माने जा सकते हैं। वे संपादक थे और उनका प्रादुर्भाव ऐसे समय में हुआ था जब इतिहास, पुरातत्त्व, विज्ञान, अध्यात्मविद्या, संपत्तिशास्त्र, शासन-पद्धति आदि विषय न तो साहित्य के अंतर्गत ही समझे जाते थे और न इन विषयों के लेख ही प्रकाशित होते थे। जब उन्होंने ऐसे ही कुछ नवीन विषयों पर लेख लिखे और लिखवाये, तब उनकी विभिन्न शैलियों का प्रचलित हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। ऐसा प्रभाव उन पर उस समय नहीं पड़ सकता था जब पाश्चात्य देशों की तरह यहाँ उन्हें केवल संपादकीय कार्य करना पड़ता। उन देशों में उक्त सभी विषय साहित्य के अन्तर्गत समझे जाते हैं और पत्र-पत्रिकाओं में इन विषयों के लेख प्रकाशित होते रहते हैं। पर वहाँ प्रधान संपादक को ही सभी विषयों का मर्मज्ञ होने की आवश्यकता नहीं, उनकी सामान्य योग्यता ही अपेक्षित होती है और उसकी सहायता के लिए, मुख्य-मुख्य विषयों के ज्ञाता अनेक उप-संपादक रहते हैं।

पर उपर्युक्त सभी विषय द्विवेदी जी के प्रिय विषय नहीं थे। उनका उद्देश्य और लक्ष्य हिंदी-भाषा का परिष्कार, उसका प्रचार और हिंदी-साहित्य की उन्नति करना रहा था। इसके लिए उनको आलोचना के प्रचलित ढंग का आश्रय लेना पड़ा था। यों उन्होंने एक विशिष्ट लेखनशैली—आलोचनात्मक—को जन्म दिया जो उनकी निजी शैली है। उनकी आलोचनात्मक शैली के हम ३ भेद कर सकते हैं—

(१) आदेशपूर्ण, (२) ओजपूर्ण, (३) भावपूर्ण।

हो सकती हैं; लेकिन ऐसा होता नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक प्रिय विषय होता है और उसी के अनुसार उसकी एक निजी शैली रहती है। द्विवेदी जी इस नियम के अपवाद माने जा सकते हैं। वे संपादक थे और उनका प्रादुर्भाव ऐसे समय में हुआ था जब इतिहास, पुरातत्त्व, विज्ञान, अध्यात्मविद्या, संपत्तिशास्त्र, शासन-पद्धति आदि विषय न तो साहित्य के अंतर्गत ही समझे जाते थे और न इन विषयों के लेख ही प्रकाशित होते थे। जब उन्होंने ऐसे ही कुछ नवीन विषयों पर लेख लिखे और लिखवाये, तब उनकी विभिन्न शैलियों का प्रचलित हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। ऐसा प्रभाव उन पर उस समय नहीं पड़ सकता था जब पाश्चात्य देशों की तरह यहाँ उन्हें केवल संपादकीय कार्य करना पड़ता। उन देशों में उक्त सभी विषय साहित्य के अन्तर्गत समझे जाते हैं और पत्र-पत्रिकाओं में इन विषयों के लेख प्रकाशित होते रहते हैं। पर वहाँ प्रधान संपादक को ही सभी विषयों का मर्मज्ञ होने की आवश्यकता नहीं, उनकी सामान्य योग्यता ही अपेक्षित होती है और उसकी सहायता के लिए, मुख्य-मुख्य विषयों के वाता अनेक उप-संपादक रहते हैं।

पर उपर्युक्त सभी विषय द्विवेदी जी के प्रिय विषय नहीं थे। उनका उद्देश्य और लक्ष्य हिंदी-भाषा का परिष्कार, उसका प्रचार और हिंदी-साहित्य की उन्नति करना रहा था। इसके लिए उनको आलोचना के प्रचलित ढंग का आश्रय लेना पड़ा था। यों उन्होंने एक विशिष्ट लेखनशैली—आलोचनात्मक—को जन्म दिया जो उनकी निजी शैली है। उनकी आलोचनात्मक शैली के हम ३ भेद कर सकते हैं—

(१) आदेशपूर्ण, (२) ओजपूर्ण, (३) भावपूर्ण।

“जो मनुष्य अपनी संतति के जीवन को यथाशक्ति सार्थक करने की योग्यता नहीं रखने अथवा जान बूझ कर उस तरह ध्यान नहीं देते, उनको पिता बनने का अधिकार नहीं; उनको पुत्रोत्पादन करने का अधिकार नहीं; उनको विवाह करने का अधिकार नहीं।”

—‘शिक्षा’ भूमिका पृ० २

इन अवतरणों को यदि उचित ढंग से पढ़ा जाय तो सुननेवालों पर अवश्य ही प्रभाव पड़ेगा। यही इस शैली की विशेषता है और यही इसका उद्देश्य।

(३) भावपूर्ण

तीसरा शैली भावपूर्ण है। भावावेश में सच्चे हृदयोद्गार इसी में प्रकट किये जाते हैं। इस प्रकार की शैली के जन्मदाता ठाकुर जगमोहनसिंह थे और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रचनाओं में भी इस शैली के दर्शन होते हैं। यहाँ द्विवेदी जी की इस प्रकार की शैली के दो छोटे-छोटे उदाहरण दिये जाते हैं। एक ‘पृथिवी-प्रदक्षिणा’-नामक पुस्तक की आलोचना से और दूसरा पंडित बालकृष्ण भट्ट के देहांत पर दिये हुए नोट से। दोनों सच्चे हृदयोद्गार के उदाहरण हैं—

“कृष्ण-मण्डल भारत, तুম कब तक अन्धकार में पड़े रहोगे ? प्रकाश में आने के लिए तुम्हारे हृदय में क्या कभी सदिच्छा ही नहीं जाग्रत होती ? पक्षहीन पक्षी की तरह क्यों तुम्हें अपने पींजड़े से बाहर निकलने का साहस नहीं होता ? क्या तुम्हें अपने पुगने दिनों की कभी याद नहीं आती ?”

—सरस्वती (अगस्त १९१८)

“भट्ट जी, तुम्हारे शरीर-स्वाग का समाचार सुनकर बड़ी फा० १२

“जो मनुष्य अपनी संतति के जीवन को यथाशक्ति सार्थक करने की योग्यता नहीं रखने अथवा जान बूझ कर उस तरफ ध्यान नहीं देते, उनके पिता बनने का अधिकार नहीं; उनको पुत्रोत्पादन करने का अधिकार नहीं; उनको विवाह करने का अधिकार नहीं।”

—‘शिष्टा’ भूमिका पृ० ९

इन अवतरणों को यदि उचित ढंग से पढ़ा जाय तो सुननेवालों पर अवश्य ही प्रभाव पड़ेगा। यही इस शैली की विशेषता है और यही इसका उद्देश्य।

(३) भावपूर्ण

तीसरा शैली भावपूर्ण है। भावावेश में सच्चे हृदयोद्गार इसी में प्रकट किये जाते हैं। इस प्रकार की शैली के जन्मदाता ठाकुर जगमोहनसिंह थे और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रचनाओं में भी इस शैली के दर्शन होते हैं। यहाँ द्विवेदी जी की इस प्रकार की शैली के दो छोटे-छोटे उदाहरण दिये जाते हैं। एक ‘पृथिवी-प्रदक्षिणा’-नामक पुस्तक की आलोचना से और दूसरा पंडित बालकृष्ण भट्ट के देहांत पर दिये हुए नोट से। दोनों सच्चे हृदयोद्गार के उदाहरण हैं—

“कूट-मण्डूक भारत, तुम कब तक अन्धकार में पड़े रहोगे ? प्रकाश में आने के लिए तुम्हारे हृदय में क्या कभी सदिच्छा ही नहीं जाग्रत होती ? पत्तहीन पत्तों की तरह क्यों तुम्हें अपने पींजड़े से बाहर निकलने का साहस नहीं होता ? क्या तुम्हें अपने पुगने दिनों की कभी याद नहीं आती ?”

—सरस्वती (अगस्त १९१४)

“भट्ट जी, तुम्हारे शरीर-त्याग का समाचार सुनकर बड़ी
फा० १२

हरण देखिए। पहला उदाहरण 'मातृभाषा के द्वारा शिक्षा'-शीर्षक नोट से है। यह नोट बंगाल, मदरास और बंबई के विश्वविद्यालयों में इतिहास, भूगोल और गणित आदि की शिक्षा शिक्षार्थियों की मातृभाषा में ही दिये जाने पर लिखा था—

“अच्छी बात है। शुभ लक्षण है। जागृति के चिह्न हैं। ग्रंथ-विश्राम का पटल हट रहा है। विवेकसूर्य की किरणें फैलने लगी हैं। पाश्चात्य सभ्यता के अभिमानी और अँगरेज़ी-भाषा के ज्ञानी भी अब जागे हैं। अपनी भाषा के द्वारा शिक्षा देने के लाभ उनकी समझ में आने लगे हैं।”

—सरस्वती (नवम्बर १९१६)

दूसरा उदाहरण एक पत्र का कुछ अंश है, जो द्विवेदी जी ने बाबू कालिदास जी कपूर को लिखा था। कपूर साहब उनके दर्शनार्थ कानपुर जाना चाहते थे। पत्रलिखकर अनुमति माँगी। उसी के उत्तर में द्विवेदी जी ने २० मई सन् १९१६ को लिखा—

“आइए। कृपा कीजिए। ३१ मई तक मैं यहीं रहूँगा। शहर से ३ मील दूर जंगल में, मौज़ा जुहो कान के सामने रहता हूँ।”

आलोचनात्मक शैली के जिन तीन प्रकारों को ऊपर समझाने की चेष्टा की गई है उनमें तत्कालीन साहित्यिक परिस्थिति आदि का चित्र है। बात यह है कि शैली के उक्त तीनों प्रकारों की आवश्यकता विशेष अवसरों पर ही पड़ती है। लगभग २० वर्ष द्विवेदी जी 'सरस्वती' के संपादक रहे और अंत तक परिस्थिति में बहुत अधिक परिवर्तन नहीं हुआ। यही कारण है कि प्रायः प्रत्येक मास को 'सरस्वती' में उक्त तीनों शैलियाँ नूते न ने

हरण देखिए। पहला उदाहरण 'मातृभाषा के द्वारा शिक्षा' शीर्षक नोट से है। यह नोट बंगाल, मदरास और बंबई के विश्वविद्यालयों में इतिहास, भूगोल और गणित आदि की शिक्षा शिक्षार्थियों की मातृभाषा में ही दिये जाने पर लिखा था—

“अच्छी बात है। शुभ लक्षण हैं। जागृति के चिह्न हैं। अंध-विश्वास का पटल हट रहा है। विवेकसूर्य की किरणें फैलने लगी हैं। पाश्चात्य सभ्यता के अभिमानी और अंगरेज़ी-भाषा के ज्ञानी भी अब जागे हैं। अपनी भाषा के द्वारा शिक्षा देने के लाभ उनकी समझ में आने लगे हैं।”

—सरस्वती (नवम्बर १९१६)

दूसरा उदाहरण एक पत्र का कुछ अंश है, जो द्विवेदी जी ने बाबू कालिदास जी कपूर को लिखा था। कपूर साहब उनके दर्शनार्थ कानपुर जाना चाहते थे। पत्रलिखकर अनुमति माँगी। उसी के उत्तर में द्विवेदी जी ने २० मई सन् १९१६ को लिखा—

“आइए। कृपा कीजिए। ३१ मई तक मैं यहीं रहूँगा। शहर से ३ मील दूर जंगल में, मौज़ा जुहो कौँ के सामने रहता हूँ।”

आलोचनात्मक शैली के जिन तीन प्रकारों को ऊपर समझाने की चेष्टा की गई है उनमें तत्कालीन साहित्यिक परिस्थिति आदि का चित्र है। बात यह है कि शैली के उक्त तीनों प्रकारों की आवश्यकता विरोध असरों पर ही पड़नी है। लगभग २० वर्ष द्विवेदी जी 'सरस्वती' के संपादक रहे और अंत तक परिस्थिति में बहुत अधिक परिवर्तन नहीं हुआ। यही कारण है कि प्रायः प्रत्येक मास को 'सरस्वती' में उक्त तीनों शैलियाँ नूते न ने

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो उनकी व्यंग्यात्मक शैली आलोचनात्मक शैली से पृथक् नहीं की जा सकती। इसका कारण स्पष्ट है। जिस उद्देश्य और आदर्श को लेकर उन्होंने साहित्य में पदार्पण किया था और जिसके लिए उन्हें आलोचनात्मक शैली की आवश्यकता पड़ी थी, उसी के लिए उन्होंने प्रायः व्यंग्य का भी प्रयोग किया है। इस शैली में ओज तो वर्तमान है ही; साथ ही व्यंग्य का जो पुट है वह भी बहुत ही चुटीला है। उदाहरण देखिए—

“कितनी लज्जा, कितने दुःख, कितने परिताप की बात है कि विदेशी लोग इतना कष्ट उठाकर और इतना धन खर्च करके संस्कृत सीखें और संस्कृत-साहित्य के जन्मदाता भारतवासियों के वंशज फ़ारसी और अँगरेज़ी की शिक्षा के मद में मतवाले होकर वह भी न जानें कि संस्कृत नाम किस चिड़िया का है? संस्कृत जानना तो दूर की बात है, हम लोग अपनी मातृभाषा हिंदी भी तो बहुधा नहीं जानते हैं, और जो लोग जानते भी हैं उन्हें हिंदी लिखते शरम आती है। इन मातृभाषा-द्रोहियों का ईश्वर कल्याण करे। सात समुद्र पार कर इंग्लैंडवाले यहाँ आते हैं, और न जाने कितना परिश्रम और खर्च उठाकर यहाँ की भाषायें सीखते हैं। फिर अनेक उत्तमोत्तम ग्रंथ लिखकर ज्ञान वृद्धि करते हैं। उन्हीं के ग्रंथ पढ़कर हम लोग अपनी भाषा और अपने साहित्य के तत्त्वज्ञानी बनते हैं। खुद कुछ नहीं करते। सिर्फ व्यर्थ कालातिपात करते हैं। अँगरेज़ी लिखने की योग्यता का प्रदर्शन करते हैं। घर में घोर अंधकार है, उसे तो दूर नहीं करते, विदेश में, जहाँ गैस और बिजली की रोशनी हो रही है, चिराग जलाने दौड़ते हैं।”

उक्त अवतरण में हमें उनकी चुटीली ओज-पूर्ण आलोचना के साथ मार्मिक व्यंग्य भी मिलता है। इस मार्मिकता और

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो उनकी व्यंग्यात्मक शैली आलोचनात्मक शैली से पृथक् नहीं की जा सकती। इसका कारण स्पष्ट है। जिस उद्देश्य और आदर्श को लेकर उन्होंने साहित्य में पदार्पण किया था और जिसके लिए उन्हें आलोचनात्मक शैली की आवश्यकता पड़ी थी, उसी के लिए उन्होंने प्रायः व्यंग्य का भी प्रयोग किया है। इस शैली में ओज तो वर्तमान है ही; साथ ही व्यंग्य का जो पुट है वह भी बहुत ही चुटीला है। उदाहरण देखिए—

“कितनी लज्जा, कितने दुःख, कितने परिताप की बात है कि विदेशी लोग इतना कष्ट उठाकर और इतना धन खर्च करके संस्कृत सीखें और संस्कृत-साहित्य के जन्मदाता भारतवासियों के वंशज फ़ारसी और अंगरेज़ी की शिक्षा के मद में मतवाले होकर यह भी न जानें कि संस्कृत नाम किस चिड़िया का है? संस्कृत जानना तो दूर की बात है, हम लोग अपनी मातृभाषा हिंदी भी तो बहुधा नहीं जानते हैं, और जो लोग जानते भी हैं उन्हें हिंदी लिखते शरम आती है। इन मातृभाषा-द्रोहियों का ईश्वर कल्याण करे। सात समुद्र पार कर इंग्लैंडवाले यहाँ आते हैं, और न जाने कितना परिश्रम और खर्च उठाकर यहाँ की भाषाएँ सीखते हैं। फिर अनेक उत्तमोत्तम ग्रंथ लिखकर ज्ञान वृद्धि करते हैं। उन्हीं के ग्रंथ पढ़कर हम लोग अपनी भाषा और अपने साहित्य के तत्त्वज्ञानी बनते हैं। खुद कुछ नहीं करते। सिर्फ व्यर्थ कालातिपात करते हैं। अंगरेज़ी लिखने की योग्यता का प्रदर्शन करते हैं। घर में घोर अंधकार है, उसे तो दूर नहीं करते, विदेश में, जहाँ गैस और बिजली की रोशनी हो रही है, चिराग जलाने दौड़ते हैं।”

उक्त अवतरण में हमें उनकी चुटीली ओज-पूर्ण आलोचना के साथ मार्मिक व्यंग्य भी मिलता है। इस मार्मिकता और

my criticisms are "Vague, worthless and nonsense" (nonsensical ?). And, pray, what do you think of Lala Sita Ram's Version of Kali Dasa ? Perhaps, most faithful, most worthy and most sensible ? Is it not ?

इस कथन में पहले दो वाक्यों में अधिक गहराई तो अवश्य है, पर चुटीलापन और मार्मिकता विशेष मात्रा में नहीं। लेकिन इसके बाद ही वे लिखते हैं—

Well, you are welcome to entertain that. (कटा है) but this you should bear in mind, that the opinion of a person who does not even give his full name in his communication, who has never appeared in public print and whose career, as a literary man in Hindi has hitherto been unknown, can only be taken for it is worth, and no more.

चुटीले व्यंग्य का एक और नमूना देखिए। पंडित प्रभुदयाल मिश्र ने कालिदास के 'मेघदूत' का उर्दू में अनुवाद किया। उसमें बहुत से दोष थे। उन दोषों को दिखाने के बाद द्विवेदी जी ने लिखा—

'जो लेखक छः मात्राओंवाले चित्रकूट और पाँच मात्राओंवाले दामागिरी को 'संस्कृत ज़बान में व्यञ्जन' समझना है वह यदि व्यास, वाल्मीकि और कालिदास की कविता का मर्म समझने बैठे तो उसके साहस की प्रशंसा अवश्य की जा सकती है, उसकी योग्यता की नहीं।'

my criticisms are "Vague, worthless and nonsense" (nonsensical?). And, pray, what do you think of Lala Sita Ram's Version of Kali Dasa? Perhaps, most faithful, most worthy and most sensible? Is it not?

इस कथन में पहले दो वाक्यों में अधिक गहराई तो अवश्य है, पर चुटीलापन और मार्मिकता विशेष मात्रा में नहीं। लेकिन इसके बाद ही वे लिखते हैं—

Well, you are welcome to entertain that. (कटा है) but this you should bear in mind, that the opinion of a person who does not even give his full name in his communication, who has never appeared in public print and whose career, as a literary man in Hindi has hitherto been unknown, can only be taken for it is worth, and no more.

चुटीले व्यंग्य का एक और नमूना देखिए। पंडित प्रभुदयाल मिश्र ने कालिदास के 'मेघदूत' का उर्दू में अनुवाद किया। उसमें बहुत से दोष थे। उन दोषों को दिखाने के बाद द्विवेदी जी ने लिखा—

'जो लेखक छः मात्राओंवाले चित्रकूट और पाँच मात्राओंवाले दामागिरी को 'संस्कृत ज्ञान में व्यञ्जन' समझना है वह यदि व्यास, वाल्मीकि और कालिदास की कविता का मर्म समझने बैठे तो उसके साहस की प्रशंसा अवश्य की जा सकती है, उसकी योग्यता की नहीं।'

हड्डी के मांस नज़र नहीं आता । सफ़ाई के इन्स्पेक्टर हैं लाला सतगुरु-दास । आपकी इन्स्पेक्टरी के ज़माने में, हिसाब से कम तनख़्वाह पाने के कारण, मेहतर लोग तीन दफ़े हड़ताल कर चुके हैं । क़ज़ूल ज़मीन के एक टुकड़े का नीलाम था । सेठ सर्वमुख उसके तीन हज़ार देते थे । पर उन्हें वह टुकड़ा न मिला । उसके ६ महीने बाद म्यूनि-सिपैलिटी के मैयर पंडित सत्यसर्वस्व के ससुर के साले के हाथ वही ज़मीन हज़ार पर बँच दी गई ।”

उन्होंने एक बार लिखा था—“प्रहसनों और हँसी-मज़ाक़ के लेखों से मनोरंजन ही नहीं होता; लेखक यदि विज्ञ और योग्य है तो वह ऐसे लेखों से समाज और साहित्य के दोषों को दूर करने की चेष्टा करता और इनके द्वारा उन्हें लाभ पहुँचा सकता है और दंडनीय व्यक्तियों का शासन भी कर सकता है । हिंदी में साहित्य के इस अंश की बहुत कमी है ।

—सरस्वती १६-१-१९०६

द्विवेदी जी के इस आदर्श को ध्यान में रखते हुए यदि हम ऊपर दिया हुआ अवतरण पढ़ें तो हमारा विशेष मनोरंजन होगा और हम यह समझ सकेंगे कि किस अवसर पर वे इस प्रकार की शैली का प्रयोग करते थे ।

एक बार शिवचरणदास नाम के किसी सज़्जन ने १४ जान स्ट्रीट, अक्सफ़र्ड से १५ जनवरी १९०६ को ‘सरस्वती’ लौटाते हुए लिखा—

“‘बारह मयत्त’ के भेजे हुए Article में जो अंत में ४ वा ५ शब्द हैं उनकी न तो वहाँ पर ज़रूरत है और न वह शोभा देते हैं, पर यह साफ़ दिखाते हैं कि दास्यभाव अभी हम भारतवर्षीयों के मनों के भीतर पूरी तरह से बस रहा है ।”

हड्डों के मांस नज़र नहीं आता । सफ़ाई के इन्स्पेक्टर हैं लाला सतगुरु-दास । आपकी इन्स्पेक्टरी के ज़माने में, हिसाब से कम तनख़्वाह पाने के कारण, मेहतर लोग तीन दफ़े हड़ताल कर चुके हैं । फ़ज़ूल ज़मीन के एक टुकड़े का नीलाम था । सेठ सर्वमुख उसके तीन हज़ार देते थे । पर उन्हें वह टुकड़ा न मिला । उसके ६ महीने बाद म्यूनि-सिपैलिटी के मेयर पंडित सत्यसर्वस्व के ससुर के साले के हाथ वही ज़मीन हज़ार पर बेंच दी गई ।”

उन्होंने एक बार लिखा था—“प्रहसनों और हँसी-मज़ाक के लेखों से मनोरंजन ही नहीं होता; लेखक यदि विज्ञ और योग्य है तो वह ऐसे लेखों से समाज और साहित्य के दोषों को दूर करने की चेष्टा करता और इनके द्वारा उन्हें लाभ पहुँचा सकता है और दंडनीय व्यक्तियों का शासन भी कर सकता है । हिंदी में साहित्य के इस अंश की बहुत कमी है ।

—सरस्वती १६-१-पृ० ६१

द्विवेदी जी के इस आदर्श को ध्यान में रखते हुए यदि हम ऊपर दिया हुआ अवतरण पढ़ें तो हमारा विशेष मनोरंजन होगा और हम यह समझ सकेंगे कि किस अवसर पर वे इस प्रकार की शैली का प्रयोग करते थे ।

एक बार शिवचरणदास नाम के किसी सज्जन ने १४ जान स्ट्रीट, अक्सफ़र्ड से १५ जनवरी १९०६ को ‘सरस्वती’ लौटाते हुए लिखा—

“‘चारह मयत्य’ के भेजे हुए Article में जो अंत में ४ वा ५ शब्द हैं उनकी न तो वहाँ पर ज़रूरत है और न वह शोभा देते हैं, पर यह साफ़ दिखाते हैं कि दास्यभाव अभी हम भारतवर्षीयों के मनों के भीतर पूरी तरह से बस रहा है ।”

भाषा तथा साहित्य की तत्कालीन परिस्थिति से ही रहा है। साहित्य, भाषा और आलोचनादर्श-संबंधी जो वाद-विवाद हिंदी-साहित्य-क्षेत्र में छिड़ा हुआ था और एक-दूसरे पर जो आरोप किये जा रहे थे उनमें भाग लेकर आरोपों का उत्तर देते हुए—यह ठीक है कि वे प्रायः वाद-विवाद से दूर रहना चाहते थे—उन्होंने जिस शैली को अपनाया, 'सरस्वती' और उससे संबंधित व्यक्तियों पर लांछन लगाने-वाले व्यक्तियों को मुँह-तोड़ जवाब देने के लिए और अयोग्य तथा अनधिकारी व्यक्तियों को साहित्यसंसार में पदार्पण करने और धाँधली मचाने से रोकने के लिए—तत्परता के साथ उनका मुँह बंद करने के लिए उन्होंने जिस शैली का अवलंब ग्रहण किया, उसमें हास्य और व्यंग्य की चुलबुलाहट में मिलकर मार्मिकता, कटाक्ष और चुटीलापन ही दिखाई देता है; जिसका कारण उनकी साहित्य-विषयक सद्भावना थी; जो उत्तरदायित्व के विचार से उत्तेजित होकर उनके उग्र स्वभाव के कारण स्वयं उग्र-रूप में दिखाई देती है। इस शैली का आरंभ प्रायः तर्क-वितर्क से होता है। पहले वे विवादग्रस्त विषयों की गुत्थियों को सुलझाकर सामने रखने की चेष्टा करते थे। इसका उदाहरण हमें 'श्रीहर्ष का समय', 'वेद' इत्यादि शीर्षक निबंधों में मिलता है। द्विवेदी जी की यह तर्कशैली बड़ी प्रौढ़ है। इसमें स्वाभाविक ओज है, हास्य है और गंभीरता है। ओज के दो कारण हैं। पहला, विशेष अध्ययन और दूसरा, उनका स्वभाव। व्यंग्य का प्रयोग वे तभी करते थे जब उन्हें ज्ञात हो जाता था कि कोई छोटे मुँह बड़ी बात कह रहा है या अपनी योग्यता का अनुचित प्रयोग कर रहा है। अपना कथन प्रमाणित करने के लिए वे अन्य विद्वानों की सम्मतियाँ तथा उनकी पुस्तकों से टिप्पणियाँ उद्धृत करते थे। इससे उनके

भाषा तथा साहित्य की तत्कालीन परिस्थिति से ही रहा है। साहित्य, भाषा और आलोचनादर्श-संबंधी जो वाद-विवाद हिंदी-साहित्य-क्षेत्र में छिड़ा हुआ था और एक-दूसरे पर जो आक्षेप किये जा रहे थे उनमें भाग लेकर आक्षेपों का उत्तर देते हुए—यह ठीक है कि वे प्रायः वाद-विवाद से दूर रहना चाहते थे—उन्होंने जिस शैली को अपनाया, 'सरस्वती' और उससे संबंधित व्यक्तियों पर लांछन लगाने-वाले व्यक्तियों को मुँह-तोड़ जवाब देने के लिए और अयोग्य तथा अनधिकारी व्यक्तियों को साहित्यसंसार में पदार्पण करने और धाँधली मचाने से रोकने के लिए—तत्परता के साथ उनका मुँह बंद करने के लिए उन्होंने जिस शैली का अवलंब ग्रहण किया, उसमें हास्य और व्यंग्य की चुलबुलाहट में मिलकर मार्मिकता, कटाक्ष और चुटीलापन ही दिखाई देता है; जिसका कारण उनकी साहित्य-विषयक सद्भावना थी; जो उत्तरदायित्व के विचार से उत्तेजित होकर उनके उग्र स्वभाव के कारण स्वयं उग्र-रूप में दिखाई देती है। इस शैली का आरंभ प्रायः तर्क-वितर्क से होता है। पहले वे विवादग्रस्त विषयों की गुत्थियों को सुलझाकर सामने रखने की चेष्टा करते थे। इसका उदाहरण हमें 'श्रीहर्ष का समय', 'वेद' इत्यादि शीर्षक निबंधों में मिलता है। द्विवेदी जी की यह तर्कशैली बड़ी प्रौढ़ है। इसमें स्वाभाविक ओज है, हास्य है और गंभीरता है। ओज के दो कारण हैं। पहला, विशेष अध्ययन और दूसरा, उनका स्वभाव। व्यंग्य का प्रयोग वे तभी करते थे जब उन्हें ज्ञात हो जाता था कि कोई छोटे मुँह बड़ी बात कह रहा है या अपनी योग्यता का अनुचित प्रयोग कर रहा है। अपना कथन प्रमाणित करने के लिए वे अन्य विद्वानों की सम्मतियाँ तथा उनकी पुस्तकों से टिप्पणियाँ उद्धृत करते थे। इससे उनके

साधारण के सामने इस ढंग से रचने के लिए किया है कि वे उसकी समझ में आ जायें। देखिए—

“संसार में जो बात जैसी देख पड़े यदि वो उसे वैसा ही वर्णन करना चाहिए। उसके लिए किसी तरह की रोक या पाबंदी का होना अच्छा नहीं। दयाव से कवि का जोश दब जाता है। उसके मन में भाव चाप ही चाप पैदा होते हैं। जब वह स्थिर होकर उन्हें अपनी कविता में प्रकट करता है तभी उसका पूरा-पूरा अमर लोगों पर पड़ता है। यनावट से कविता बिगड़ जाती है। किसी राजा या किसी व्यक्ति-विशेष के गुण दोषों को देखकर कवि के मन में जो भाव उद्भूत हों उन्हें यदि चेशक दोर प्रकट कर दे तो उसकी कविता हृदय-द्रावक हुए बिना न रहे। परंतु परतंत्रता या पुरस्कार-प्राप्ति या और किसी तरह की सहाय्य के पैदा हो जाने से यदि उसे अपने मन की बात कहने का साहस नहीं होता तो कविता का रस जरूर कम हो जाता है। इस दशा में अच्छे कवियों की भी कविता नीरस अतएव प्रभावहीन हो जाती है।”

साधारण जनता को कविता की परिभाषा—कविता क्या—समझाने के लिए हम सरल शैली को द्विवेदी जी ने अपनाया है। भाषा सरल है, वाक्य छोटे हैं और प्रतिपादन-प्रणाली अत्यन्त सुलभ हुई है। उनकी भाषा कभी-कभी कुछ और शुद्ध हो जाती है। उसमें उर्दू के तत्सम तो क्या तद्भव शब्द भी एक ही आध मिलते हैं। यह उनकी इस गवेषणात्मक शैली का दूसरा रूप है। इसका एक उदाहरण साहित्य-प्रियक द्विवेदी जी के विचार समझाने के लिए ऊपर दिया हुआ अवतरण हो सकता है। उसमें भाषा विशेष सरल नहीं है और गंभीर भाषाव्यंजन में कुछ दुरुहता भी है, जिसे द्विवेदी जी ने कुशलता से स्पष्ट करने की सफल चेष्टा की है।

साधारण के सामने इस ढंग से रखने के लिए किया है कि वे उनकी समझ में आ जायें। देखिए—

“संसार में जो बात जैसी देख पड़े यदि वो उसे वैसा ही वर्णन करना चाहिए। उसके लिए किसी तरह की रोक या पाबंदी का होना अच्छा नहीं। दयाव से कवि का जोश दब जाता है। उसके मन में भाव थाप ही थाप पैदा होने हैं। जब यह भिन्न होकर उन्हें अपनी कविता में प्रकट करता है तभी उसका पूरा-पूरा अमर लोगों पर पड़ता है। यनावट से कविता बिगड़ जाती है। किसी राजा या किसी व्यक्ति-विशेष के गुण दोषों को देखकर कवि के मन में जो भाव उद्भूत हों उन्हें यदि बेरोक टोक प्रकट कर दे तो उनकी कविता हृदय-द्रावक हुए बिना न रहे। परंतु परतंत्रता या पुरस्कार-प्राप्ति या और किसी तरह की कलावट के पैदा हो जाने से यदि उसे अपने मन की बात कहने का साहस नहीं होता तो कविता का रस जरूर कम हो जाता है। इस दशा में अच्छे कवियों की भी कविता नीरस अतएव प्रभावहीन हो जाती है।”

साधारण जनता को कविता की परिभाषा—कविता क्या—समझाने के लिए हम सरल शैली को द्विवेदी जी ने अपनाया है। भाषा सरल है, वाक्य छोटे हैं और प्रतिपादन-प्रणाली अत्यन्त सुलभ हुई है। उनकी भाषा कभी-कभी कुछ और शुद्ध हो जाती है। उसमें उर्दू के तत्सम तो क्या तद्भव शब्द भी एक ही आध मिलते हैं। यह उनकी इस गवेषणात्मक शैली का दूसरा रूप है। इसका एक उदाहरण साहित्य-विषयक द्विवेदी जी के विचार समझाने के लिए ऊपर दिया हुआ अवतरण हो सकता है। उसमें भाषा विशेष सरल नहीं है और गंभीर भाषाव्यंजन में कुछ दुरुहता भी है, जिसे द्विवेदी जी ने कुशलता से स्पष्ट करने की सफल चेष्टा की है।

विशेष रोचकता आ जाती है और भाव स्पष्टतया बोधगम्य जाता है। दूसरे शब्दों में—

‘अधिक से अधिक ईप्सित प्रभाव उत्पन्न करना ही यदि भाषा-शैली की मुख्य सफलता मान ली जाय तो शब्दों का शुद्ध, सामयिक, सार्थक और सुंदर प्रयोग विशेष महत्त्व रखने लगे। शब्दों की शुद्धि व्याकरण का विषय है; व्याकरण की व्यवस्था साहित्य की पहली सीढ़ी है। सामयिक प्रयोग से हमारा आशय प्रसंगानुसार उस शब्द-चयन-चातुरी से है जो काव्य के उद्यान को प्रकृति की सुपमा प्रदान करती है। उसमें कहीं अस्वाभाविकता बोध नहीं होती। सार्थक पदविन्यास केवल विघट्ट का विषय नहीं है; उसमें हमारी वह कल्पना-शक्ति भी काम करती है जो शब्दों की प्रतिभा बनाकर हमारे सामने उपस्थित कर देती है। पदों का सुंदर प्रयोग वह है जो संगीत (व्यञ्चारण), व्याकरण, कोष आदि सबसे अनुमोदित हो और सबकी सहायता से संघटित हो; जिसके ध्वनिमात्र से अनुरूप चित्रात्मकता प्रगट हो और जो वाक्यविन्यास का प्रकृतिवत् अभिन्न अंग बन कर वहाँ निवास करने लगे। अभी तो हिंदी के समीक्षा-क्षेत्र में उर्दू-मिश्रित अथवा संस्कृत-मिश्रित भाषा-भेद को ही शैली समझ लेने की आत धारणा फैली हुई है; परंतु यदि साहित्यिक शैलियों का कुछ गंभीर अध्ययन आरंभ होता तो द्विवेदी जी की शैली के व्यक्तित्व और उसके स्थितिव के प्रमाण मिलेंगे। द्विवेदी जी की शैली का व्यक्तित्व यही है कि वह ह्रस्व, अनलंकृत और रुच है। उनकी भाषा में कोई संगान नहीं, केवल उच्चारण का ओज है जो भाषण-कला से उधार लिया है। विषय का स्पष्टीकरण करने के आशय से द्विवेदी जी जो पुनरुक्तियाँ करते हैं, वे कभी कभी खाली चलती जाती हैं—असर नहीं करती; परंतु वे फिर आती हैं और असर करती हैं। लघुता उनकी विभूति है। वाक्य पर वाक्य आते और विचारों की पुष्टि

विशेष रोचकता आ जाती है और भाव स्पष्टतया बोधगम्य जाता है। दूसरे शब्दों में—

‘अधिक से अधिक ईप्सित प्रभाव उत्पन्न करना ही यदि भाषा-शैली की मुख्य सफलता मान ली जाय तो शब्दों का शुद्ध, सामयिक, सार्थक और सुंदर प्रयोग विशेष महत्त्व रखने लगे। शब्दों की शुद्धि व्याकरण का विषय है; व्याकरण की व्यवस्था साहित्य की पहली सीढ़ी है। सामयिक प्रयोग से हमारा आशय प्रसंगानुसार उस शब्द-चयन-चातुरी से है जो काव्य के उद्धान को प्रकृति की सुपमा प्रदान करती है। उसमें कहीं अस्वाभाविकता बोध नहीं होती। सार्थक पदविन्यास केवल णिघंटु का विषय नहीं है; उसमें हमारी वह कल्पना-शक्ति भी काम करती है जो शब्दों की प्रतिभा बनाकर हमारे सामने उपस्थित कर देती है। पदों का सुंदर प्रयोग वह है जो संगीत (व्यञ्चारण), व्याकरण, कोष आदि सबसे अनुमोदित हो और सबकी सहायता से संघटित हो; जिसके ध्वनिमात्र से अनुरूप चित्रात्मकता प्रगट हो और जो वाक्यविन्यास का प्रकृतिवत् अभिन्न अंग बन कर वहाँ निवास करने लगे। अभी तो हिंदी के समीक्षा-क्षेत्र में उर्दू-मिश्रित अथवा संस्कृत-मिश्रित भाषा-भेद को ही शैली समझ लेने को आत धारणा फैली हुई है; परंतु यदि साहित्यिक शैलियों का कुछ गंभीर अध्ययन आरंभ होता तो द्विवेदी जी की शैली के व्यक्तित्व और उसके स्थपित्व के प्रमाण मिलेंगे। द्विवेदी जी की शैली का व्यक्तित्व यही है कि वह ह्रस्व, अनलंकृत और रुच है। उनकी भाषा में कोई संगान नहीं, केवल उच्चारण का ओज है जो भाषण-कला से उधार लिया है। विषय का स्पष्टीकरण करने के आशय से द्विवेदी जी जो पुनरुक्तियाँ करते हैं, वे कभी कभी खाली चलती जाती हैं—असर नहीं करनी; परंतु वे फिर आती हैं और असर करती हैं। लघुता उनकी विभूति है। वाक्य पर वाक्य आते और विचारों की पुष्टि

हिंदी की हिमायत

“अपनी मा को निःसहाय, निरुपाय और निर्धन दशा में छोड़कर जो मनुष्य दूसरे की मा की सेवा-शुश्रूषा में रत होता है उस अधम की कृतघ्नता का क्या प्रायश्चित्त होना चाहिए, इसका निर्णय कोई मनु, याज्ञवल्क्य या आपस्तंब ही कर सकते हैं।”

—“साहित्य की महत्ता”

बंकिम बाबू ने एक बार श्रीयुत रमेशचंद्र दत्त से कहा था—आप अँगरेजी में लिखते हैं, यह खुशी की बात है; लेकिन साथ ही इसका दुःख भी है कि बंगाली होते हुए आप बँगला-साहित्य के प्रति बिल्कुल उदासीन हैं। बँगला में पुस्तकें आप क्यों नहीं लिखते ?

दत्त ने उत्तर दिया—क्या कहूँ ? बँगला में लिख नहीं सकता ।

बंकिम बाबू इतना सुनते ही बिगड़ उठे, बोले—आप बँगला में लिख नहीं सकते ? बंगाली होकर बँगला में नहीं लिख सकते, कितने अचरज की बात है !

दत्त ने पूछा—कैसे लिखूँ ? किस भाषा में लिखूँ ?

उसी भाषा में लिखिए जिसमें आप घर में बातचीत करते हैं ।—बंकिम बाबू ने शीघ्रता से कहा ।

दत्त हँस पड़े । कइने लगे—लेकिन वह भाषा तो साहित्यिक भाषा न होगी ।

हिंदी की हिमायत

“अपनी मा को निःसहाय, निरुपाय और निर्धन दशा में छोड़कर जो मनुष्य दूसरे की मा की सेवा-शुश्रूषा में रत होता है उस अधम की कृतमता का क्या प्रायश्चित्त होना चाहिए, इसका निर्णय कोई मनु, याज्ञवल्क्य या आपस्तंब ही कर सकते हैं।”

—“साहित्य की महत्ता”

बंकिम बाबू ने एक बार श्रीयुत रमेशचंद्र दत्त से कहा था— आप अंगरेजी में लिखते हैं, यह खुशी की बात है; लेकिन साथ ही इसका दुःख भी है कि बंगाली होते हुए आप बँगला-साहित्य के प्रति विलकुल उदासीन हैं। बँगला में पुस्तकें आप क्यों नहीं लिखते ?

दत्त ने उत्तर दिया—क्या कहूँ ? बँगला में लिख नहीं सकता ।

बंकिम बाबू इतना सुनते ही बिगड़ उठे, बोले—आप बँगला में लिख नहीं सकते ? बंगाली होकर बँगला में नहीं लिख सकते, कितने अचरज की बात है !

दत्त ने पूछा—कैसे लिखूँ ? किस भाषा में लिखूँ ?

उसी भाषा में लिखिए जिसमें आप घर में बातचीत करते हैं ।—बंकिम बाबू ने शीघ्रता से कहा ।

दत्त हँस पड़े । कहने लगे—लेकिन वह भाषा तो साहित्यिक भाषा न होगी ।

कराया गया था। तब से अब तक उसी लिपि में हिंदी लिखने में मेरा अधिकांश समय व्यतीत हुआ। यह इस बात का प्रमाण है कि इस लिपि और इस भाषा से मेरा प्रेम ही नहीं, इन दोनों पर मेरी परम श्रद्धा है। मेरी संमति तो यह है कि भागत की प्राचीन सभ्यता का जिन्हें स्वर्णांश में भी गर्व है उन सभी को इस लिपि और इस भाषा से श्रद्धा करनी चाहिए।”

द्विवेदी जी चाहते थे कि समस्त भारतवर्ष में हिंदी-भाषा का प्रचार हो, क्योंकि सभी प्रान्तों में उसके समझनेवाले मौजूद हैं। पर जनता में उस समय उसका मान नहीं था। विद्वानों की विद्वत्ता का अनुमान अँगरेजीदानी, फ़ारसीदानी और कभी-कभी संस्कृतदानी देखकर कर लिया जाता था। वे हिंदी कितनी जानते हैं, जानते भी हैं या नहीं, इसके पूछने की आवश्यकता ही नहीं समझी जाती थी। कचहरियों में उसको घुसने की आज्ञा न थी, विश्वविद्यालयों और कालेजों ने उसका वहिष्कार कर दिया था। यहाँ तक कि जो लोग शुद्ध अँगरेजी या उर्दू नहीं बोल सकते थे वे भी उसे नहीं अपनाते थे—घर के काम-काज और चिट्ठी-पत्री तक में उसे व्यवहार में लाते शर्माते थे। पढ़े-लिखे लोग तो हिंदी के शत्रु थे। उनके खान-पान, उनके रहन-सहन, वेप-भूषण सबमें अँगरेजी का समावेश हो गया था। बातचीत और पत्र-व्यवहार तो क्या, ग्रंथ-रचना भी वे अँगरेजी में ही किया करते थे।

द्विवेदी जी इसको भारतवासियों के—कम से कम हिंदी-भाषियों के—पतन की चरम सीमा समझते थे। एक स्थान पर उन्होंने आलोचनात्मक शैली में एक व्यंग्यपूर्ण नोट लिखा है। इसमें हिंदी की तत्कालीन दशा का चित्र खींचते हुए वे लिखते हैं—

“जून सन् १९०७ के ‘हिंदुस्तान रिव्यू’ में छोटा-सा लेख,

कराया गया था। तब से अब तक उसी लिपि में हिंदी लिखने में मेरा अधिकांश समय व्यतीत हुआ। यह इस बात का प्रमाण है कि इस लिपि और इस भाषा से मेरा प्रेम ही नहीं, इन दोनों पर मेरी परम श्रद्धा है। मेरी संमति तो यह है कि भारत की प्राचीन सभ्यता का जिन्हें स्वर्णांश में भी गर्व है उन सभी को इस लिपि और इस भाषा से श्रद्धा करनी चाहिए।”

द्विवेदी जी चाहते थे कि समस्त भारतवर्ष में हिंदी-भाषा का प्रचार हो, क्योंकि सभी प्रान्तों में उसके समझनेवाले मौजूद हैं। पर जनता में उस समय उसका मान नहीं था। विद्वानों की विद्वत्ता का अनुमान अँगरेजीदानी, फारसीदानी और कभी-कभी संस्कृतदानी देखकर कर लिया जाता था। वे हिंदी कितनी जानते हैं, जानते भी हैं या नहीं, इसके पूछने की आवश्यकता ही नहीं समझी जाती थी। कचहरियों में उसको घुसने की आज्ञा न थी, विश्वविद्यालयों और कालेजों ने उसका बहिष्कार कर दिया था। यहाँ तक कि जो लोग शुद्ध अँगरेजी या उर्दू नहीं बोल सकते थे वे भी उसे नहीं अपनाते थे—घर के काम-काज और चिट्ठी-पत्री तक में उसे व्यवहार में लाते शर्माते थे। पढ़े-लिखे लोग तो हिंदी के शत्रु थे। उनके खान-पान, उनके रहन-सहन, वेप-भूषण सबमें अँगरेजी का समावेश हो गया था। बातचीत और पत्र-व्यवहार तो क्या, ग्रंथ-रचना भी वे अँगरेजी में ही किया करते थे।

द्विवेदी जी इसको भारतवासियों के—कम से कम हिंदी-भाषियों के—पतन की चरम सीमा समझते थे। एक स्थान पर उन्होंने आलोचनात्मक शैली में एक व्यंग्यपूर्ण नोट लिखा है। इसमें हिंदी की तत्कालीन दशा का चित्र खींचते हुए वे लिखते हैं—

“जून सन् १९०७ के ‘हिंदुस्तान रिव्यू’ में छोटा-सा लेख,

साहित्य के। पर इससे क्या? हिंदी हमारी मातृभाषा है, अतः हमें उस पर गर्व करना चाहिए और फिर जब विदेशी हमारे साहित्य का मंथन कर लाभ उठा रहे हैं तब भी हम बेसुध पड़े रहें तो हमसे बढ़कर मूढ़ कौन होगा। 'माधुरी' के एक विशेषांक (वर्ष ७, खंड १, संख्या १) में द्विवेदी जी ने लिखा है—

“ग्रियर्सन साहब के मातृभाषा-प्रेम से हमारे भारतीय भाई सबक सीखने की ज़रूरत कम समझते हैं यह अफ़सोस की बात है। मुझ छुद हिंदी-लेखक को भी मेरे ही देश—नहीं, प्रांत के भी कोई निवासी अपनी अँगरेज़ीदानी की धाक मुझ पर जमाने के लिए अँगरेज़ी ही में चिट्ठियाँ लिखने की कृपा कर डालते हैं। जैसे उन्हें अपनी भाषा लिखते लज्जा आती हो। जो लोग हिंदी ही में लेख लिख-लिखकर अपनी कीर्ति-लता को चारों ओर फैलाते हैं वे भी, कभी-कभी, किसी अज्ञात भावना से आविष्ट-से होकर खानगी पत्रों में भी अँगरेज़ी छुटने लगते हैं।”

इन शब्दों में द्विवेदी जी की आत्मा बोल रही है। उनके हृदय में मातृभाषा के प्रति बड़ा प्रेम था। यह ठीक है कि उन्होंने समय-समय पर स्वयं अँगरेज़ी में पत्र लिखे हैं। पर यह बात बहुत पहले की है। सन् १९०३ में जब उन्होंने संपादन-कार्य ग्रहण किया ही था तब एक चिट्ठी स्वर्गीय पंडित सत्यनारायण कविरत्न को लिखी थी। वह इस प्रकार है—

JHANSI,

30th October, 1903.

DEAR Pt. SATYA NARAYAN,

The frankness with which you have written your letter has immensely pleased me. If I have an occasion to come to Agra I shall ask you

साहित्य के। पर इससे क्या ? हिंदी हमारी मातृभाषा है, अतः हमें उस पर गर्व करना चाहिए और फिर जब विदेशी हमारे साहित्य का मंथन कर लाभ उठा रहे हैं तब भी हम वेसुध पड़े रहें तो हमसे बढ़कर मूढ़ कौन होगा। 'माधुरी' के एक विशेषांक (वर्ष ७, खंड १, संख्या १) में द्विवेदी जी ने लिखा है—

“ग्रियर्सन साहब के मातृभाषा-प्रेम से हमारे भारतीय भाई सबक सीखने की ज़रूरत कम समझते हैं यह अफ़सोस की बात है। मुझ छुद्र हिंदी-लेखक को भी मेरे ही देश—नहीं, प्रांत के भी कोई निवासी अपनी अँगरेज़ीदानी की धाक मुझ पर जमाने के लिए अँगरेज़ी ही में चिट्ठियाँ लिखने की कृपा कर डालते हैं। जैसे उन्हें अपनी भाषा लिखते लज्जा आती हो। जो लोग हिंदी ही में लेख लिख-लिखकर अपनी कीर्ति-लता को चारों ओर फैलाते हैं वे भी, कभी-कभी, किसी अज्ञात भावना से आविष्ट-से होकर खानगी पत्रों में भी अँगरेज़ी छुँटने लगते हैं।”

इन शब्दों में द्विवेदी जी की आत्मा बोल रही है। उनके हृदय में मातृभाषा के प्रति बड़ा प्रेम था। यह ठीक है कि उन्होंने समय-समय पर स्वयं अँगरेज़ी में पत्र लिखे हैं। पर यह बात बहुत पहले की है। सन् १९०३ में जब उन्होंने संपादन-कार्य ग्रहण किया ही था तब एक चिट्ठी स्वर्गीय पंडित सत्यनारायण कविरत्न को लिखी थी। वह इस प्रकार है—

JHANSI,

30th October, 1903.

DEAR Pt. SATYA NARAYAN,

The frankness with which you have written your letter has immensely pleased me. If I have an occasion to come to Agra I shall ask you

उदाहरण के लिए यहाँ एक सिकांरिशो चिट्ठी उद्धृत की जाती है। एक महाशय 'सरस्वती' के अच्छे लेखकों में से थे—प्रायः उसमें लिखा करते थे। द्विवेदी जी उनको मानते थे। एक बार एक विश्वविद्यालय में हिंदी-अध्यापक की जगह खाली हुई। लेखक महोदय एक स्कूल के हेडमास्टर थे। उन्होंने द्विवेदी जी से एक सिकांरिशो चिट्ठी लिखने को कहा। द्विवेदी जी इस समय संपादन-कार्य से अलग हो चुके थे। उन्होंने यह पत्र लिखा—

This is to certify that Babu
headmaster
 has a very good knowledge of Hindi language
 and literature, and has contributed to the "Sara-
 swati", the leading Hindi Magazine, published
 by the Indian Press, Allahabad, some very ins-
 tructive and interesting articles containing criti-
 cal observations, especially those on the work of
 Tulsi Dasa. I admire his acumen. I am told
 he is desirous of making the Hindi language and
 Hindi literature his lifelong study. He appears
 to me eminently fitted for the post of the lecturer
 in the
 University. Given opportunity Babu
is sure to do
 useful research work.

JUHI-KALAN
 CAWNPORE:
 24th April, 1922

MAHAVIRA PD. DWIVEDI,
 RETIRED EDITOR,
Saraswati,

उदाहरण के लिए यहाँ एक सिकारिशी चिट्ठी उद्धृत की जाती है। एक महाशय 'सरस्वती' के अच्छे लेखकों में से थे—प्रायः उसमें लिखा करते थे। द्विवेदी जी उनको मानते थे। एक बार एक विश्वविद्यालय में हिंदी-अध्यापक की जगह खाली हुई। लेखक महोदय एक स्कूल के हेडमास्टर थे। उन्होंने द्विवेदी जी से एक सिकारिशी चिट्ठी लिखने को कहा। द्विवेदी जी इस समय संपादन-कार्य से अलग हो चुके थे। उन्होंने यह पत्र लिखा—

This is to certify that Babu
headmaster
 has a very good knowledge of Hindi language and literature, and has contributed to the "Saraswati", the leading Hindi Magazine, published by the Indian Press, Allahabad, some very instructive and interesting articles containing critical observations, especially those on the work of Tulsī Dasa. I admire his acumen. I am told he is desirous of making the Hindi language and Hindi literature his lifelong study. He appears to me eminently fitted for the post of the lecturer in the
 University. Given opportunity Babu
is sure to do useful research work.

JUHI-KALAN
 CAWNPORE:
 24th April, 1922

MAHAVIRA PD. DWIVEDI,
 RETIRED EDITOR,
Saraswati,

वह कैसा प्रत्युपकार है ! जिन लोगों की गाढ़ी कमाई के पैसे से आप सुशिक्षित और सुपंडित बने बैठे हैं उनको तथा उनकी सन्तति के तो पढ़ने के लिए उनकी निजी भाषा में हँदने से भी दस-पाँच तक अच्छी पुस्तकें न मिलें; और आप मेज़-कुर्सी लगाये, मूँछें पेंडते प्लेटो, पिथागोरस और सेनेका, शंकर, जैमिन और श्रीहर्ष के दार्शनिक विचारों की समालोचना सात समुद्र पार की भाषा में लिखें । × × × क्या केवल अँगरेज़ीदाँ हज़रत ही इस देश में रहते हैं ! क्या ये स्कूल, कालेज और वजीफ़ उन्हीं के घर के रुपये से चलते हैं और मिलते हैं ?

हमारी यह शिकायत × × × शास्त्री से ही नहीं, उत्तरी भारत के अन्यान्य अँगरेज़ीदाँ शास्त्रियों से भी है । आप लोग अपनी भाषा में भी उपयोगी लेख लिखने की दया कीजिए । लिखना नहीं आता तो सीखिए । अपना कर्तव्य पालन कीजिए ।”

(सरस्वती, सितंबर १९१४)

ऐसे नोट जनता पर प्रभाव डालते थे । लेकिन द्विवेदी जी की अभिलाषा नहीं पूर्ण हुई । शायद ही एक-आध लेखक ने इन टिप्पणियों पर ध्यान दिया हो; बाक़ी सब लकीर के फ़कीर ही बने रहे । द्विवेदी जी ने ‘सरस्वती’ (भाग १५, संख्या ४, पृष्ठ १६६) में ‘देशी भाषाओं में शिक्षा’-शीर्षक लेख इस प्रकार लिखा है—

“भारत में विदेशी भाषा बड़ा ही ग़ज़ब ढा रही है । उसी की कृपा से हम लोग अपनी भाषा भूल-से रहे हैं । अँगरेज़ीदाँ मातृभाषा को घृणा की दृष्टि से देखते हैं । कितने ही महात्मा तो ऐसे हैं, जिन्हें अपनी आभा का एक शब्द तक लिखते लज्जा मालूम होती है । उनकी अँगरेज़ी चिट्ठियों का उत्तर बार-बार मातृभाषा में देने पर

वह कैसा प्रत्युपकार है ! जिन लोगों की गाढ़ी कमाई के पैसे से आप सुशिक्षित और सुपंडित बने बैठे हैं उनके तथा उनकी सन्तति के तो पढ़ने के लिए उनकी निजी भाषा में हँदने से भी दस-पाँच तक अच्छी पुस्तकें न मिलें; और आप मेज़-कुर्सी लगाये, मूँछें ऐंठते प्लेटो, पिथागोरस और सेनेका, शंकर, जैमिन और श्रीहर्ष के दार्शनिक विचारों की समालोचना सात समुद्र पार की भाषा में लिखें । × × × क्या केवल अँगरेज़ीदाँ हज़रत ही इस देश में रहते हैं ! क्या ये स्कूल, कालेज और वजीफ़ उन्हीं के घर के रुपये से चलते हैं और मिलते हैं ?

हमारी यह शिकायत × × × शास्त्री से ही नहीं, उत्तरी भारत के अन्यान्य अँगरेज़ीदाँ शास्त्रियों से भी है । आप लोग अपनी भाषा में भी उपयोगी लेख लिखने की दया कीजिए । लिखना नहीं आता तो सीखिए । अपना कर्तव्य पालन कीजिए ।"

(सरस्वती, सितंबर १९१४)

ऐसे नोट जनता पर प्रभाव डालते थे । लेकिन द्विवेदी जी की अभिलाषा नहीं पूर्ण हुई । शायद ही एक-आध लेखक ने इन टिप्पणियों पर ध्यान दिया हो; बाक़ी सब लकीर के फ़कीर ही बने रहे । द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' (भाग १५, संख्या ४, पृष्ठ १६६) में 'देशी भाषाओं में शिक्षा'-शीर्षक लेख इस प्रकार लिखा है—

"भारत में विदेशी भाषा बड़ा ही ग़ज़ब ढा रही है । उसी की कृपा से हम लोग अपनी भाषा भूल-से रहे हैं । अँगरेज़ीदाँ मातृभाषा को घृणा की दृष्टि से देखते हैं । कितने ही महात्मा तो ऐसे हैं, जिन्हें अपनी भाषा का एक शब्द तक लिखते लज्जा मालूम होती है । उनकी अँगरेज़ी चिट्ठियों का उत्तर बार-बार मातृभाषा में देने पर

अच्छी से अच्छी पुस्तकों और पत्रों का नाम तक नहीं जानते ।
अक्रसोस !”

पर हिंदी-प्रचार के लिए द्विवेदी जी की सर्वत्र यही नीति नहीं रहती थी । वास्तव में वे साम, दाम, दण्ड और भेद का उचित उपयोग करना जानते थे और करते भी थे । यदि समझते कि अमुक व्यक्ति केवल समझाये से ही हिंदी के प्रति अपना कर्तव्य समझ लेगा, तो उसके साथ वैसा ही बर्ताव करते थे । इसका उदाहरण सेंट निहालसिंहजी के विषय में लिखी हुई एक टिप्पणी से मिलता है । सेंट जी एक प्रतिष्ठित और विद्वान् पुरुष थे, द्विवेदी जी ने उनके लेख पढ़े । सेंट जी में प्रतिभा थी और विद्वत्ता भी । फिर क्या था । द्विवेदी जी उन पर लट्टू हो गये और उनसे हिंदी में भी लिखने को कहा । द्विवेदी जी की नीति सफल हुई । सेंट निहालसिंह जी ने कई लेख ‘सरस्वती’ के लिए लिखे

२६ अक्टूबर, १९०४ के “श्रीवेङ्कटेश्वर-समाचार” में “हिंदी बोल नहीं सकती”—शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ था । उसके लेखक ने लिखा था—

“सुनते हैं, हिन्दी अक्षरों को भैंस बराबर समझनेवाले महात्मा लोग दहा करते हैं कि हिन्दी में पढ़ने की चीज़ ही क्या है, जो पढ़ी जाय किन्तु हे अँगरेज़ी को महत्व देनेवाले महापुरुषो ! हिन्दी में अँगरेज़ी का महत्व क्यों नहीं आता ? न आने के अपराधी क्या आपके सिंवा और कोई है ? अँगरेज़ी की जो बड़ाई आपकी खोपड़ियों में समा गई है उसकी भेंट हिन्दी के पढ़नेवालों को देने की ज़िम्मेवारी क्या उन्हीं लोगों की है, जो बेचारे घर की दशा ठीक न होने के कारण अँगरेज़ी पढ़ने का मौक़ा नहीं पा सके ? अँगरेज़ी विद्या के धुरन्धर

अच्छी से अच्छी पुस्तकों और पत्रों का नाम तक नहीं जानते ।
अक्रसोस !”

पर हिंदी-प्रचार के लिए द्विवेदी जी की सर्वत्र यही नीति नहीं रहती थी । वास्तव में वे साम, दाम, दण्ड और भेद का उचित उपयोग करना जानते थे और करते भी थे । यदि समझते कि अमुक व्यक्ति केवल समझाये से ही हिंदी के प्रति अपना कर्तव्य समझ लेगा, तो उसके साथ वैसा ही बर्ताव करते थे । इसका उदाहरण सेंट निहालसिंहजी के विषय में लिखी हुई एक टिप्पणी से मिलता है । सेंट जी एक प्रतिष्ठित और विद्वान् पुरुष थे, द्विवेदी जी ने उनके लेख पढ़े । सेंट जी में प्रतिभा थी और विद्वत्ता भी । फिर क्या था । द्विवेदी जी उन पर लट्टू हो गये और उनसे हिंदी में भी लिखने को कहा । द्विवेदी जी की नीति सफल हुई । सेंट निहालसिंह जी ने कई लेख ‘सरस्वती’ के लिए लिखे

२६ अक्तूबर, १९०४ के “श्रीवेङ्कटेश्वर-समाचार” में “हिंदी बोल नहीं सकती”—शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ था । उसके लेखक ने लिखा था—

“सुनते हैं, हिन्दी अक्षरों को भेंस बराबर समझनेवाले महात्मा लोग ब्रह्मा करते हैं कि हिन्दी में पढ़ने की चीज़ ही क्या है, जो पढ़ी जाय किन्तु हे अँगरेज़ी को महत्त्व देनेवाले महापुरुषो ! हिन्दी में अँगरेज़ी का महत्त्व क्यों नहीं आता ? न आने के अपराधी क्या आपके सिवा और कोई है ? अँगरेज़ी की जो बड़ाई आपकी खोपड़ियों में समा गई है उसकी भेंट हिन्दी के पढ़नेवालों को देने की ज़िम्मेवारी क्या उन्हीं लोगों की है, जो बेचारे घर की दशा ठीक न होने के कारण अँगरेज़ी पढ़ने का मौक़ा नहीं पा सके ? अँगरेज़ी विद्या के धुरन्धर

इस रहस्य को समझने के लिए हमें द्विवेदी जी के उद्देश्य और आदर्श को समझना पड़ेगा। वे चाहते थे कि भारतवासी भारतीयता और राष्ट्रीयता का अर्थ समझ जायें और देश की उन्नति की ओर ध्यान दें। इसका एकमात्र उपाय, उनकी समझ में, एक भाषा का प्रचार था। वे हिंदी को इस पद के योग्य समझते थे; क्योंकि यही एक भाषा ऐसी थी—है भी—जिसका प्रचार अन्य देशी भाषाओं से अधिक है। अतः यदि कोई दूसरी भाषा इस ओर झुकती थी तो वे इसे आपस की फूट समझते थे। उनका मत था कि हिंदी के अतिरिक्त कोई भाषा इस पद के योग्य हो ही नहीं सकती और यदि किसी प्रान्तवाले ऐसा करने का उद्योग भी करेंगे तो इससे हानि ही होगी। यही बात उन्होंने 'सरस्वती' में (भाग १५, संख्या १, पृ० ४१०) लिखी है। उस समय बंगालियों ने यह चेष्टा की थी कि बँगला राष्ट्रभाषा बना दी जाय। बँगला तो इस पद के सर्वथा अनुपयुक्त थी—यद्यपि उसका साहित्य हिंदी से उन्नत था—पर हिंदी के उपयुक्त होने पर भी उसकी उन्नति की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जा रहा था। द्विवेदी जी आपस की इस कलह से बहुत दुखी हुए। उन्होंने बंगालियों को समझाने के लिए लिखा—

“मद्रास प्रान्त तक में जब हमारी भाषा के समझनेवाले प्रायः सर्वत्र पाये जाते हैं, तब बंगाल, बम्बई और पञ्जाब के विषय में कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं। सो, जिस भाषा के समझनेवाले भारत के कोने-कोने में विद्यमान हैं और जिसकी सहायता से मनुष्य अरमोड़ा से कुमारिका अन्तरीप और पेशावर से रंगून-तक की यात्रा में अपने भाव अन्य प्रान्तवालों पर प्रकट कर सकता है और उनकी बात समझ सकता है, उसी का—उसी हिन्दी का—उसी के व/ में

इस रहस्य को समझने के लिए हमें द्विवेदी जी के उद्देश्य और आदर्श को समझना पड़ेगा। वे चाहते थे कि भारतवासी भारतीयता और राष्ट्रीयता का अर्थ समझ जायँ और देश की उन्नति की ओर ध्यान दें। इसका एकमात्र उपाय, उनकी समझ में, एक भाषा का प्रचार था। वे हिंदी को इस पद के योग्य समझते थे; क्योंकि यही एक भाषा ऐसी थी—है भी—जिसका प्रचार अन्य देशी भाषाओं से अधिक है। अतः यदि कोई दूसरी भाषा इस ओर झुकती थी तो वे इसे आपस की फूट समझते थे। उनका मत था कि हिंदी के अतिरिक्त कोई भाषा इस पद के योग्य हो ही नहीं सकती और यदि किसी प्रान्तवाले ऐसा करने का उद्योग भी करेंगे तो इससे हानि ही होगी। यही बात उन्होंने 'सरस्वती' में (भाग १५, संख्या १, पृ० ४१०) लिखी है। उस समय बंगालियों ने यह चेष्टा की थी कि बँगला राष्ट्रभाषा बना दी जाय। बँगला तो इस पद के सर्वथा अनुपयुक्त थी—यद्यपि उसका साहित्य हिंदी से उन्नत था—पर हिंदी के उपयुक्त होने पर भी उसकी उन्नति की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जा रहा था। द्विवेदी जी आपस की इस कलह से बहुत दुखी हुए। उन्होंने बंगालियों को समझाने के लिए लिखा—

“मद्रास प्रान्त तक में जब हमारी भाषा के समझनेवाले प्रायः सर्वत्र पाये जाते हैं, तब बंगाल, बम्बई और पञ्जाब के विषय में कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं। सो, जिस भाषा के समझनेवाले भारत के कोने-कोने में विद्यमान हैं और जिसकी सहायता से मनुष्य अरमोड़ा से कुमारिका अन्तरीप और पेशावर से रंगून-तक की यात्रा में अपने भाव अन्य प्रान्तवालों पर प्रकट कर सकता है और उनकी बात समझ सकता है, उसी का—उसी हिन्दी का—उसी के घ' में

गति रखते थे और उन्होंने वंग-कवि माइकेल मधुसूदन दत्त तथा कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि के जीवन-चरित भी, संचेप में, लिखे हैं। अतः यह समझना कि द्विवेदी जी को बँगला से द्वेष था, ठीक नहीं है। वास्तव में वे यह चाहते थे कि जिस प्रकार बंगाली अपनी मातृभाषा की उन्नति के लिए दत्तचित्त हैं, उसी प्रकार—चाहे उन्हीं की देखादेखी—हिंदी-भाषा-भाषियों को भी यह चेष्टा करनी चाहिए कि हिंदी-साहित्य की पूर्ण उन्नति हो जाय। बँगला-साहित्य पर उन्होंने समय-समय पर जो टिप्पणियाँ दी हैं वे इसी उद्देश्य की द्योतक हैं कि बंगालियों का अपनी भाषा के प्रति जैसा कर्तव्य है, उसे सुझाकर हिंदीवालों को भी अपनी मातृ-भाषा के प्रति कर्तव्य का ज्ञान करा दें। 'वंग-कवि-कुल-कोकिल' बाबू नवीनचंद्र सेन, वी० ए० का संक्षिप्त परिचय उन्होंने अप्रैल, सन् १९०६ की 'सरस्वती' में प्रकाशित किया था। उसके अंत में द्विवेदी जी ने लिखा है—

‘ईश्वर से प्रार्थना है कि ऐसा एक-आध महाकवि न सही तो अच्छा कवि ही इन प्रांतों में भी पैदा करे, जहाँ की मुख्य भाषा हमारी हीना और क्षीण-क्लेवरा हिंदी है।’

इस कथन से हमें ज्ञात होता है कि द्विवेदी जी के हृदय में अन्य भाषाओं की उन्नति देखकर कसक उठती थी। यह कसक डाह या ईर्ष्या की द्योतक नहीं थी, वरन् इस हूक का कारण यह था कि हिंदी की इसी प्रकार उन्नति करने के लिए हिंदी-भाषा-भाषी कुछ ध्यान ही नहीं देते थे।

यही बात उर्दू के लिए भी कही जा सकती है। उर्दू की उन्नति की ओर कुछ लोग ध्यान देते थे। एक बार भोपाल की बेगम साहिबा ने मुहम्मद साहब के चरित्र-लेखक को दो सौ

गति रखते थे और उन्होंने वंग-कवि माइकेल मधुसूदन दत्त तथा कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि के जीवन-चरित भी, संक्षेप में, लिखे हैं। अतः यह समझना कि द्विवेदी जी को बँगला से द्वेष था, ठीक नहीं है। वास्तव में वे यह चाहते थे कि जिस प्रकार बँगाली अपनी मातृभाषा की उन्नति के लिए दत्तचित्त हैं, उसी प्रकार—चाहे उन्हीं की देखादेखी—हिंदी-भाषा-भाषियों को भी यह चेष्टा करनी चाहिए कि हिंदी-साहित्य की पूर्ण उन्नति हो जाय। बँगला-साहित्य पर उन्होंने समय-समय पर जो टिप्पणियाँ दी हैं वे इसी उद्देश्य की द्योतक हैं कि बँगालियों का अपनी भाषा के प्रति जैसा कर्तव्य है, उसे सुझाकर हिंदीवालों को भी अपनी मातृ-भाषा के प्रति कर्तव्य का ज्ञान करा दें। 'वंग-कवि-कुल-कोकिल' बाबू नवीनचंद्र सेन, वी० ए० का संक्षिप्त परिचय उन्होंने अग्रेल, सन् १९०६ की 'सरस्वती' में प्रकाशित किया था। उसके अंत में द्विवेदी जी ने लिखा है—

‘ईश्वर से प्रार्थना है कि ऐसा एक-आध महाकवि न सही तो अच्छा कवि ही इन प्रांतों में भी पैदा करे, जहाँ की मुख्य भाषा हमारी हीना और चीथ-कलेवरा हिंदी है।’

इस कथन से हमें ज्ञात होता है कि द्विवेदी जी के हृदय में अन्य भाषाओं की उन्नति देखकर कसक उठती थी। यह कसक डाह या ईर्ष्या की द्योतक नहीं थी, वरन् इस हूक का कारण यह था कि हिंदी की इसी प्रकार उन्नति करने के लिए हिंदी-भाषा-भाषी कुछ ध्यान ही नहीं देते थे।

यही बात उर्दू के लिए भी कही जा सकती है। उर्दू की उन्नति की ओर कुछ लोग ध्यान देते थे। एक बार भोपाल की बेगम साहिबा ने मुहम्मद साहब के चरित्र-लेखक को दो सौ

इसे सीखे तो हमारा निस्तार ही नहीं। पर हमारा रहन-सहन, वेश-भूषा, खान-पान, सब अँगरेज़ी ढंग का हो जाय, हम अपनी मातृभाषा में लिखना, पढ़ना, बोलना, पाप समझने लगें, यह हमारे लिए घातक है। अँगरेज़ी-भाषा-विषयक उनके विचार 'महामंडल-माहात्म्य' नाम की अँगरेज़ी पुस्तक की आलोचना से स्पष्ट हो जाते हैं। यह आलोचना 'सरस्वती' (भाग १६, संख्या ३, पृ० १८६) में प्रकाशित हुई थी। उसमें द्विवेदी जी ने लिखा है—

“भारत धर्म-महामण्डल धार्मिक परिपद् है। सनातनधर्म की रक्षा और विस्तार हो के लिए उसका जन्म हुआ है। ऐसी संस्था से प्रकाशित पुस्तकें अँगरेज़ी में क्यों निकले? हिंदी या और किसी भाषा में क्यों नहीं?”

इसी प्रकार जब 'पृथिवी-प्रदक्षिणा' के लेखक बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने लिखा—

“मैंने कलम उठा अपनी गँवारी देशी भाषा वा असभ्य देवनागरी अक्षरों में छोटा सा विचार लिख दिया। हमारे साहब हिंदू लोग हँसेंगे कि यह अजब उल्लू है कि हवाई द्वीप में भी हिंदी में लिखना है। भला इसे पढ़ेगा कौन? किंतु उन्हें अलमोड़ा, द्वारिकाश्रम इत्यादि या अन्य किसी जगह ही सही, योरप-अमेरिका-निवासियों को अँगरेज़ी, जर्मन, फ्रांसीसी भाषाओं में लिखते देख हँसी नहीं आती, उल्टे उनकी नक़ल कर वे स्वयं अँगरेज़ी में लिखने लग जाते हैं। इसी का नाम है पराधीनता की छाप।”

पृ० १५६।

तब द्विवेदी जी ने बड़े मार्के का यह नोट लिखा था—

इसे सीखे तो हमारा निस्तार ही नहीं। पर हमारा रहन-सहन, वेश-भूषा, खान-पान, सब अँगरेज़ी ढंग का हो जाय, हम अपनी मातृभाषा में लिखना, पढ़ना, बोलना, पाप समझने लगें, यह हमारे लिए घातक है। अँगरेज़ी-भाषा-विषयक उनके विचार 'महामंडल-माहात्म्य' नाम की अँगरेज़ी पुस्तक की आलोचना से स्पष्ट हो जाते हैं। यह आलोचना 'सरस्वती' (भाग १६, संख्या ३, पृ० १८६) में प्रकाशित हुई थी। उसमें द्विवेदी जी ने लिखा है—

“भारत धर्म-महामण्डल धार्मिक परिपद् है। सनातनधर्म की रक्षा और विस्तार हो के लिए उसका जन्म हुआ है। ऐसी संस्था से प्रकाशित पुस्तकें अँगरेज़ी में क्यों निकले? हिंदी या और किसी भाषा में क्यों नहीं?”

इसी प्रकार जब 'पृथिवी-प्रदक्षिणा' के लेखक बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने लिखा—

“मैंने कलम उठा अपनी गँवारी देशी भाषा वा असभ्य देवनागरी अक्षरों में छोटा सा विचार लिख दिया। हमारे साहब हिंदू लोग हँसेंगे कि यह अजब उल्लू है कि हवाई द्वीप में भी हिंदी में लिखना है। भला इसे पढ़ेगा कौन? किंतु उन्हें अलमोड़ा, द्वारिकाश्रम इत्यादि या अन्य किसी जगह ही सही, योरप-अमेरिका-निवासियों को अँगरेज़ी, जर्मन, फरासीसी भाषाओं में लिखते देख हँसी नहीं आती, उल्टे उनकी नक़ल कर वे स्वयं अँगरेज़ी में लिखने लग जाते हैं। इसी का नाम है पराधीनता की छाप।”

पृ० १२६।

तब द्विवेदी जी ने बड़े मार्के का यह नोट लिखा था—

थे। 'हिंदी-विश्वकोष'-नामक ग्रंथ के पहले खंड की एक कापी द्विवेदी जी के पास भेजी गई। साथ में एक पत्र भी था। यह अँगरेजी में लिखा था। यह बात सन् १९३७ की है। द्विवेदी जी इस समय संपादक नहीं थे। उन्होंने कोष की समालोचना 'सरस्वती' में प्रकाशित कराई और उसमें साथ के अँगरेजी पत्र का जिक्र कर दिया।

उच्च कोटि की जो पुस्तकें द्विवेदी जी दूसरी भाषा में पढ़ते थे उन्हें अपनी भाषा में लिखवाना अपना कर्तव्य समझते थे। इसके लिए कई बार उन्होंने प्रयत्न भी किया।

'उज्जैन के सूवा या सर-सूवा' रायवहादुर चिंतामणि विनायक वैद्य, एम० ए०, एल-एल० बी० ने एक पुस्तक 'महाभारत का उपसंहार' लिखी। द्विवेदी जी ने उसे पढ़ा। पुस्तक उन्हें बहुत ही अधिक पसंद आई और उसे उन्होंने पञ्चम वेद—महाभारत—की सभी दृष्टियों से की गई चूड़ान्त समालोचना समझा। हिंदी में इस प्रकार की कोई पुस्तक न थी, अतः उसे पढ़कर उनके मन में जो भावना पैदा हुई उसे उन्हीं के शब्दों में देखिए—

“इस पुस्तक को पढ़कर हमारे मन में यह भावना हुई कि यदि इसका हिंदी-अनुवाद हो जाता तो अपनी भाषा के साहित्य में एक अमूल्य ग्रंथ की संपन्नता हो जाती।”

—सरस्वती (भा० २६, सं० ५ पृ० ५२२)

वाल्मीकि-रामायण की भी इस प्रकार की कोई समालोचनात्मक पुस्तक न थी। यह कमी भी द्विवेदी जी को बहुत खटकती थी। हिंदी के लेखकों से उन्होंने इसको पूरा करने की

थे। 'हिंदी-विश्वकोष'-नामक ग्रंथ के पहले खंड की एक कापी द्विवेदी जी के पास भेजी गई। साथ में एक पत्र भी था। यह अँगरेजी में लिखा था। यह बात सन् १९३७ की है। द्विवेदी जी इस समय संपादक नहीं थे। उन्होंने कोष की समालोचना 'सरस्वती' में प्रकाशित कराई और उसमें साथ के अँगरेजी पत्र का जिक्र कर दिया।

उच्च कोटि की जो पुस्तकें द्विवेदी जी दूसरी भाषा में पढ़ते थे उन्हें अपनी भाषा में लिखवाना अपना कर्तव्य समझते थे। इसके लिए कई बार उन्होंने प्रयत्न भी किया।

'उज्जैन के सूबा या सर-सूबा' रायबहादुर चिंतामणि विनायक वैद्य, एम० ए०, एल-एल० बी० ने एक पुस्तक 'महाभारत का उपसंहार' लिखी। द्विवेदी जी ने उसे पढ़ा। पुस्तक उन्हें बहुत ही अधिक पसंद आई और उसे उन्होंने पञ्चम वेद—महाभारत—की सभी दृष्टियों से की गई चूड़ान्त समालोचना समझा। हिंदी में इस प्रकार की कोई पुस्तक न थी, अतः उसे पढ़कर उनके मन में जो भावना पैदा हुई उसे उन्हीं के शब्दों में देखिए—

“इस पुस्तक के पढ़कर हमारे मन में यह भावना हुई कि यदि इसका हिंदी-अनुवाद हो जाता तो अपनी भाषा के साहित्य में एक अमूल्य ग्रंथ की संपन्नता हो जाती।”

—सरस्वती (भा० २६ सं० ५ पृ० ५२२)

वाल्मीकि-रामायण की भी इस प्रकार की कोई समालोचनात्मक पुस्तक न थी। यह कभी भी द्विवेदी जी को बहुत खटकती थी। हिंदी के लेखकों से उन्होंने इसको पूरा करने की

दता है—उसे किसी का डर नहीं। बहुत दिन की बात नहीं है, जब एक महाशय ने बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन को एक पत्र अँगरेज़ी में लिखा था। टंडन जी का उत्तर हिंदी में ही आया और उसका पहला वाक्य था—

“आपका अँगरेज़ी भाषा में लिखा हुआ पत्र मिला। धन्यवाद।”

लेखक महाशय वी० ए० थे, व्यंग्य समझे और कटकर रह गये। यही द्विवेदी जी भी चाहते थे कि जो बड़े अँगरेज़ीदाँ बनते हैं वे अपनी मातृभाषा के प्रति अपना कर्तव्य समझ जायँ। वे अपने प्रयत्न में बहुत कुछ सफल हुए। हिंदी-भाषा-भाषियों ने अपना कर्तव्य समझा और हिंदी-प्रचार भी हुआ। पर द्विवेदी जी को सन्तोष न हुआ। यदि कोई ऐसा व्यक्ति जिसकी मातृभाषा हिंदी नहीं होती थी, हिंदी का अध्ययन करता था तो द्विवेदी जी फूले नहीं समाते थे। उनकी यह प्रवृत्ति आरंभ से ही रही है। सन् १६०१ में उन्होंने एक पत्र श्रीयुत सदाशिव रघुनाथ भागवत को लिखा था। यह पत्र इस प्रकार है—

१० जनवरी, १६०१

भाँसी

प्रिय महाशय,

आपका कृपामत्र आया। अत्यन्त दुःख हुआ। यह जानकर आश्चर्य होता है कि आपकी मातृभाषा मराठी होकर, आपने हिंदी में इतना अभ्यास किया है। यही नहीं, किंतु आप हिंदी में कविता भी कर सकते हैं। आपकी विद्याभिरुचि प्रशंसनीय है। यदि ग्वालियर आने का अवसर प्राप्त होगा, तो हम आपसे अवश्य मिलेंगे + एक ‘नागरी’

दता है—उसे किसी का डर नहीं। बहुत दिन की बात नहीं है, जब एक महाशय ने बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन को एक पत्र अँगरेज़ी में लिखा था। टंडन जी का उत्तर हिंदी में ही आया और उसका पहला वाक्य था—

“आपका अँगरेज़ी भाषा में लिखा हुआ पत्र मिला। धन्यवाद।”

लेखक महाशय बी० ए० थे, व्यंग्य समझे और कटकर रह गये। यही द्विवेदी जी भी चाहते थे कि जो बड़े अँगरेज़ीदाँ बनते हैं वे अपनी मातृभाषा के प्रति अपना कर्तव्य समझ जायँ। वे अपने प्रयत्न में बहुत कुछ सफल हुए। हिंदी-भाषा-भाषियों ने अपना कर्तव्य समझा और हिंदी-प्रचार भी हुआ। पर द्विवेदी जी को सन्तोष न हुआ। यदि कोई ऐसा व्यक्ति जिसकी मातृभाषा हिंदी नहीं होती थी, हिंदी का अध्ययन करता था तो द्विवेदी जी फूले नहीं समाते थे। उनकी यह प्रवृत्ति आरंभ से ही रही है। सन् १६०१ में उन्होंने एक पत्र श्रीयुत सदाशिव रघुनाथ भागवत को लिखा था। यह पत्र इस प्रकार है—

१० जनवरी, १६०१

भाँसी

प्रिय महाशय,

आपका कृपापत्र आया। अत्यन्त दुःख। यह जानकर आश्चर्य होता है कि आपकी मातृभाषा मराठी होकर, आपने हिंदी में इतना अभ्यास किया है। यही नहीं, किंतु आप हिंदी में कविता भी कर सकते हैं। आपकी विद्याभिरुचि प्रशंसनीय है। यदि ग्वालियर आने का अवसर प्राप्त होगा, तो हम आपसे अवश्य मिलेंगे + एक ‘नागरी’

यहाँ एक शंका की जा सकती है। जिस हिंदी की उन्नति के लिए वे दिन-रात प्रयत्नशील रहते थे उसी मातृभाषा हिंदी का प्रचार करनेवाली नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, की सेवाओं और कार्यों की वे कटु आलोचना क्यों किया करते थे। वास्तव में द्विवेदी जी सभा के उद्देश्य को बड़े आदर की दृष्टि से देखा करते थे और उसके जन्मदाता बाबू श्यामसुंदरदास जी का भी बड़ा सम्मान किया करते थे। इसके लिए सभा के मंत्री बाबू राधाकृष्णदास ने २४-१-१८९६ को धन्यवाद का एक पत्र भी द्विवेदी जी को लिखा था। वाद में जब सभा के कार्य-कर्त्ताओं में ही कुछ मनमुटाव और किसी सीमा तक स्वार्थपरता का भाव आगया तब वे उसके विरुद्ध हो गये। इस बात को वे स्वयं 'सरस्वती' में लिख चुके हैं। अस्तु !

आज देश में हिंदी-प्रचार के लिए व्यापक आन्दोलन हो रहा है और साहित्य के प्रत्येक अंग की पूर्ति की चेष्टा भी की जा रही है। इसका श्रेय द्विवेदी जी को ही है। वास्तव में वे हिंदी के निष्काम साधक थे। उसकी उन्नति के लिए उन्होंने अपना तन, मन, धन सभी कुछ अर्पण कर दिया। एक महा-शय के विषय में कहा जाता है कि उन्हें चौबीसों घंटे देश का ध्यान रहता था; हम भी कह सकते हैं कि द्विवेदी जी चौबीसों घंटे हिंदी के हित की बात सोचा करते थे।

यहाँ एक शंका की जा सकती है। जिस हिंदी की उन्नति के लिए वे दिन-रात प्रयत्नशील रहते थे उसी मातृभाषा हिंदी का प्रचार करनेवाली नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, की सेवाओं और कार्यों की वे कटु आलोचना क्यों किया करते थे। वास्तव में द्विवेदी जी सभा के उद्देश्य को बड़े आदर की दृष्टि से देखा करते थे और उसके जन्मदाता बाबू श्यामसुंदरदास जी का भी बड़ा सम्मान किया करते थे। इसके लिए सभा के मंत्री बाबू राधाकृष्णदास ने २४-१-१८९६ को धन्यवाद का एक पत्र भी द्विवेदी जी को लिखा था। वाद में जब सभा के कार्यकर्त्ताओं में ही कुछ मनमुटाव और किसी सीमा तक स्वार्थपरता का भाव आगया तब वे उसके विरुद्ध हो गये। इस बात को वे स्वयं 'सरस्वती' में लिख चुके हैं। अस्तु !

आज देश में हिंदी-प्रचार के लिए व्यापक आन्दोलन हो रहा है और साहित्य के प्रत्येक अंग की पूर्ति की चेष्टा भी की जा रही है। इसका श्रेय द्विवेदी जी को ही है। वास्तव में वे हिंदी के निष्काम साधक थे। उसकी उन्नति के लिए उन्होंने अपना तन, मन, धन सभी कुछ अर्पण कर दिया। एक महा-शय के विषय में कहा जाता है कि उन्हें चौबीसों घंटे देश का ध्यान रहता था; हम भी कह सकते हैं कि द्विवेदी जी चौबीसों घंटे हिंदी के हित की बात सोचा करते थे।

यह बुढ़ापे के समय का पंडित हरिभाऊ उपाध्याय के देखे हुए व्यक्तित्व का वर्णन है। इसी को दूसरी आँखों से देखिए—

“लंबा क्रुद्ध, विशाल और रोबदार चेहरा, उन्नत ललाट, गौर वर्ण, सिंह के समान अस्त-व्यस्त फैली हुई बड़ी-बड़ी मूँछें और असाधारण घनी घनी भौंहें—द्विवेदी जी को देखकर एक महापुरुष व तत्त्ववेत्ता के साक्षात्कार का अनुभव तो होता ही है, यह भी जान पड़ता है कि हम फ्राँज के किसी रिटायर्ड कमाण्डर के सामने खड़े हैं, जो युगों से धारा के प्रवाह को अपनी गोद में लेकर उछाल देता रहा हो, और जिसका युगों का संचय काई के रूप में बुढ़ापे के केवल थोड़े से पद-विह्व हों—उसकी कठोरता वैसी ही बनी हो, उसकी थपेड़ों से लहरें अब भी मुड़-मुड़कर बहती हों। द्विवेदी जी के व्यक्तित्व में हमें एक ऐसे कुशल सेनानायक के गुणों की झलक मिलती है, जिसके जीवन का मुख्य तत्त्व अनुशासन रहा हो। वह यदि युद्ध के क्षेत्र में होते, तो सेनाओं का संचालन करते। हिंदी के साहित्य-क्षेत्र में आये, तो उन्होंने बीस वर्ष तक उसकी डिक्टेटरशिप अपने हाथ में रखी।”

लगभग चालीस वर्ष पहले उनकी स्थिति साधारण ही थी। मामूली गृहस्थों की तरह रहते थे और रेल के वाबुओं की तरह कोट-पतलून पहनते थे। उस समय भी लोग अपने सामने कोट-पतलून डाटे एक ‘जाएंट’ को देखा करते थे। उनका वह तेजस्वी व्यक्तित्व, विशाल रोबदार चेहरा और उन्नत ललाट, बड़ी-बड़ी भौंहों के नीचे तेजपूर्ण नेत्रों की मर्मवेधिनी दृष्टि देखकर दूसरे सहम-से जाते थे। यद्यपि बुढ़ापे में उनके चेहरे पर वह कान्ति और नेत्रों में वह ज्योति नहीं रही थी, तथापि उनकी सौम्य आकृति वैसा ही प्रभाव डालनेवाली अन्तिम दिनों तक बनी रही थी।

यह बुढ़ापे के समय का पंडित हरिभाऊ उपाध्याय के देखे हुए व्यक्तित्व का वर्णन है। इसी को दूसरी आँखों से देखिए—

“लंबा क्रद, विशाल और रोबदार चेहरा, उन्नत ललाट, गौर वर्ण, सिंह के समान अस्त-व्यस्त फैली हुई बड़ी-बड़ी मूँछें और असाधारण घनी घनी भौंहें—द्विवेदी जी को देखकर एक महापुरुष व तत्त्ववेत्ता के साक्षात्कार का अनुभव तो होता ही है, यह भी जान पड़ता है कि हम फ्राँज के किसी रिटायर्ड कमाण्डर के सामने खड़े हैं, जो युगों से धारा के प्रवाह को अपनी गोद में लेकर उछाल देता रहा हो, और जिसका युगों का संचय कोई के रूप में बुढ़ापे के केवल थोड़े से पद-विह्वल हों—उसकी कठोरता वैसी ही बनी हो, उसकी थपेड़ों से लहरें अब भी मुड़-मुड़कर बहती हों। द्विवेदी जी के व्यक्तित्व में हमें एक ऐसे कुशल सेनानायक के गुणों की झलक मिलती है, जिसके जीवन का मुख्य तत्त्व अनुशासन रहा हो। वह यदि युद्ध के क्षेत्र में होते, तो सेनाओं का संचालन करते। हिंदी के साहित्य-क्षेत्र में आये, तो उन्होंने बीस वर्ष तक उसकी डिप्टेयरशिप अपने हाथ में रखी।”

लगभग चालीस वर्ष पहले उनकी स्थिति साधारण ही थी। मामूली गृहस्थों की तरह रहते थे और रेल के वायुओं की तरह कोट-पतलून पहनते थे। उस समय भी लोग अपने सामने कोट-पतलून डाटे एक ‘जाएंट’ को देखा करते थे। उनका वह तेजस्वी व्यक्तित्व, विशाल रोबदार चेहरा और उन्नत ललाट, बड़ी-बड़ी भौंहों के नीचे तेजपूर्ण नेत्रों की मर्मवेधिनी दृष्टि देखकर दूसरे सहम-से जाते थे। यद्यपि बुढ़ापे में उनके चेहरे पर वह कान्ति और नेत्रों में वह ज्योति नहीं रही थी, तथापि उनकी सौम्य आकृति वैसा ही प्रभाव डालनेवाली अन्तिम दिनों तक बनी रही थी।

पंचायत के सरपंच भी थे। पहले वे आनरेरी मुंसिफ थे, लेकिन अब कई वर्षों से वहाँ पंचायत स्थापित हो गई थी। मुक्तदमों की कुल काररवाई वे हिंदी में ही लिखते थे। जिस दिन मुक्तदमे इत्यादि नहीं पेश होते, उस दिन थोड़ा-सा आराम करके अखवार ही पढ़ा करते थे। कभी-कभी दोपहर को लेटकर कुछ विश्राम भी कर लेते थे। नींद तो उन्हें रात में भी बहुत कम आती थी। दिन में तो शायद ही कभी सोते हों। उन्निद्र रोग से वे सदैव पीड़ित रहे। शाम को, चार बजने के बाद, वे अपने बागों व खेतों की ओर घूमने जाते थे। मार्ग में गरीब किसान मिल जाते थे। द्विवेदी जी उनसे, उनकी ही भाषा में, खेती-किसानी के विषय में बड़ी देर तक बातें किया करते थे। शाम को घूम-फिरकर थोड़ी देर तक दरवाजे पर बैठते थे। कोई आ गया तो उससे बातें किया करते थे। इसके बाद शीघ्र ही सो जाने को ऊपर चले जाते थे।

यह थी द्विवेदी जी की वैधी हुई दिनचर्या। वृद्धावस्था में वे अपने गाँव से बहुत कम निकलते थे। परंतु जब वे 'सरस्वती' के संपादक थे तब भी उनका दैनिक जीवन और कार्यक्रम निश्चित रहता था और वे सब काम समय पर ही किया करते थे। यहाँ तक कि उनके दैनिक जीवन और कार्यक्रम से परिचित रहनेवाला व्यक्ति निःसंदेह यह बता सकता था कि अमुक समय में द्विवेदी जी अमुक कार्य कर रहे होंगे और अमुक स्थान पर मिलेंगे। उनकी वक्त की पाबंदी और कर्तव्य-पालन की दृढ़ता देखकर एक बार स्वर्गीय बाबू चिंतामणि घोष ने उन्हीं से कहा था—हिंदुस्तानी संपादकों में मैंने वक्त के पाबंद और कर्तव्य-पालन के विषय में दृढ़-प्रतिज्ञ दो ही आदमी देखे हैं; एक तो रामानंद बाबू और दूसरे आप ।

पंचायत के सरपंच भी थे। पहले वे आनरेरी मुंसिफ थे, लेकिन अब कई वर्षों से वहाँ पंचायत स्थापित हो गई थी। मुकदमों की कुल काररवाई वे हिंदी में ही लिखते थे। जिस दिन मुकदमे इत्यादि नहीं पेश होते, उस दिन थोड़ा-सा आराम करके अखवार ही पढ़ा करते थे। कभी-कभी दोपहर को लेटकर कुछ विश्राम भी कर लेते थे। नींद तो उन्हें रात में भी बहुत कम आती थी। दिन में तो शायद ही कभी सोते हों। उन्निद्र रोग से वे सदैव पीड़ित रहे। शाम को, चार बजने के बाद, वे अपने बागों व खेतों की ओर घूमने जाते थे। मार्ग में गरीब किसान मिल जाते थे। द्विवेदी जी उनसे, उनकी ही भाषा में, खेती-किसानी के विषय में बड़ी देर तक बातें किया करते थे। शाम को घूम-फिरकर थोड़ी देर तक दरवाजे पर बैठते थे। कोई आ गया तो उससे बातें किया करते थे। इसके बाद शीघ्र ही सो जाने को ऊपर चले जाते थे।

यह थी द्विवेदी जी की बँधी हुई दिनचर्या। वृद्धावस्था में वे अपने गाँव से बहुत कम निकलते थे। परंतु जब वे 'सरस्वती' के संपादक थे तब भी उनका दैनिक जीवन और कार्यक्रम निश्चित रहता था और वे सब काम समय पर ही किया करते थे। यहाँ तक कि उनके दैनिक जीवन और कार्यक्रम से परिचित रहनेवाला व्यक्ति निःसंदेह यह बता सकता था कि अमुक समय में द्विवेदी जी अमुक कार्य कर रहे होंगे और अमुक स्थान पर मिलेंगे। उनकी वक्त की पाबंदी और कर्तव्य-पालन की दृढ़ता देखकर एक बार स्वर्गीय बाबू चिंतामणि घोष ने उन्हीं से कहा था—हिंदुस्तानी संपादकों में मैंने वक्त के पाबंद और कर्तव्य-पालन के विषय में दृढ़-प्रतिज्ञा दे ही आदमी देखे हैं; एक तो रामानंद बाबू और दूसरे आप ।

भावुक, प्रतिभाशाली और शिष्ट लेखक थे। उन्हें सभा के उद्देश्य और आदर्श से पूर्ण सहानुभूति थी; परंतु सभा के तत्कालीन कार्यकर्त्ताओं की नीति उन्हें पसंद नहीं थी। पर उन्होंने किसी पर अपने लेख में आक्षेप नहीं किया। फिर भी पंडित केदारनाथ जी पाठक ने जाकर उनसे पहला प्रश्न यही किया कि सभा के कार्यों की जो कड़ी आलोचना की है उसका हमें किस रूप में प्रतिवाद करना होगा—क्या 'विपस्य विपमौपधम्' की नीति का अवलंबन करना पड़ेगा ?

द्विवेदी जी ने मुस्कराते हुए सज्जनोचित शब्दों में कहा—देवता ! ठहर जाओ, ठहर जाओ, मैं अभी आता हूँ। और एक तश्तरी में मिठाई, एक लोटा जल लाकर सामने रख दिया तथा एक मोटी लाठी भी साथ लेते आये। तत्पश्चात् उन्होंने कहा—सुदूर प्रवास से थके-माँदे आ रहे हो, पहले हाथ-मुँह धोकर जलपान करके सबल हो जाओ। तब यह लाठी और यह मेरा मस्तक है। यह थी सरलता की कोमलता, जिसने पाठक जी को पानी-पानी कर दिया। चित्त की क्रोधाग्नि को अश्रुधारा ने बुझा दिया। क्रोध का स्थान करुणा ने ग्रहण कर लिया। हृदय में श्रद्धा और भक्ति का भाव उमड़ पड़ा।

आम खाने का शौक उन्हें आरंभ से ही था। उन्होंने कई आम के पेड़ स्वयं लगाये थे। सन् १८८५ के लगभग वे हुशंगाबाद के रेलवे स्टेशन पर थे। स्टेशन के पास ही एक बँगले के आँगन में उन्होंने बंबई के 'हाउस' नाम के कलमी आम की एक गुठली गाड़ दी। उससे पौधा निकला। १५-२० वर्ष बाद द्विवेदी जी फिर एक बार उधर से निकले, तब स्टेशन

भावुक, प्रतिभाशाली और शिष्ट लेखक थे। उन्हें सभा के उद्देश्य और आदर्श से पूर्ण सहानुभूति थी; परंतु सभा के तत्कालीन कार्यकर्त्ताओं की नीति उन्हें पसंद नहीं थी। पर उन्होंने किसी पर अपने लेख में आक्षेप नहीं किया। फिर भी पंडित केदारनाथ जी पाठक ने जाकर उनसे पहला प्रश्न यही किया कि सभा के कार्यों की जो कड़ी आलोचना की है उसका हमें किस रूप में प्रतिवाद करना होगा—क्या 'विपस्य विपमौपधम्' की नीति का अवलंबन करना पड़ेगा ?

द्विवेदी जी ने मुस्कराते हुए सज्जनोचित शब्दों में कहा—देवता ! ठहर जाओ, ठहर जाओ, मैं अभी आता हूँ। और एक तश्तरी में मिठाई, एक लोटा जल लाकर सामने रख दिया तथा एक मोटी लाठी भी साथ लेते आये। तत्पश्चात् उन्होंने कहा—सुदूर प्रवास से थके-माँदे आ रहे हो, पहले हाथ-मुँह धोकर जलपान करके सवल हो जाओ। तब यह लाठी और यह मेरा मस्तक है। यह थी सरलता की कोमलता, जिसने पाठक जी को पानी-पानी कर दिया। चित्त की क्रोधाग्नि को अश्रुधारा ने बुझा दिया। क्रोध का स्थान करुणा ने ग्रहण कर लिया। हृदय में श्रद्धा और भक्ति का भाव उमड़ पड़ा।

आम खाने का शौक उन्हें आरंभ से ही था। उन्होंने कई आम के पेड़ स्वयं लगाये थे। सन् १८८५ के लगभग वे हुशंगाबाद के रेलवे स्टेशन पर थे। स्टेशन के पास ही एक बँगले के आँगन में उन्होंने बंबई के 'हाउस' नाम के कलमी आम की एक गुठली गाड़ दी। उससे पौधा निकला। १५-२० वर्ष बाद द्विवेदी जी फिर एक बार उधर से निकले, तब स्टेशन

उनका पुस्तकालय भी था, प्रवेश किया। मेरे द्वारा वहाँ अन्य दोनों सज्जनों का परिचय पाकर वे विशेष प्रसन्न हुए और हम लोगों के साहित्य-संबंधी वार्तालाप करने लगे। इसके पश्चात् उन्होंने हम लोगों को जलपान कराया और पान दिये। इस प्रकार लगभग दो घंटे तक हम लोग द्विवेदी जी के सख्त में आनंद मनाते रहे। अंत में हम लोगों के विदा लेने पर आप सड़क तक हम सबको भेजने आये और आदर-संस्कार की झुट्टियों के लिए चूमा माँगी।

स्वर्गवासी द्विवेदी जी शिष्टाचार के पूरे पालक थे, अतएव उन्हें किसी की थोड़ी भी अशिष्टता सहा नहीं होती थी। पूर्वोक्त अवसर पर जब द्विवेदी जी कुछ कह रहे थे तब मैं भूल से बीच में कुछ कह गया। इस पर उन्होंने कुछ रुखे होकर कहा कि आपके साथ बातचीत करना कठिन है! मैं नत-मस्तक होकर रह गया। द्विवेदी जी का स्वभाव जितना दयालु था उतना ही उग्र भी था, मानो वे 'साँसति करि पुनि कहि' पसक'। अनधिकारी लोगों के वार्तालाप तथा व्यवहार से उनके मन में ग्लानि होती थी। वे पत्रों का उत्तर बहुधा लौटती ढाक से देते थे और जो उनके पत्र का उत्तर नहीं देता था उसे वे असह्य समझते थे तथा उनकी अवहेलना को अपना अपमान मानते थे।"

द्विवेदी जी का यह दस्तूर था कि जो कोई भी उनसे मिलने जाता उसे अपनी डिविया से दो पान भेंट करते और बातचीत समाप्त कर लेने पर दो पान और भेंट करते, जो इस बात का इशारा था कि वस अब आप तशरीफ ले जाइए जैसा कि महात्मा गांधी भी बातचीत समाप्त करने पर कह देते हैं कि 'वस खलास।' इससे यह प्रकट होता है कि द्विवेदी जी व्यर्थ की बकवास और समय का नष्ट करना पसंद नहीं करते थे। उन्होंने कभी शत्रुता को उभारने की कोशिश नहीं की और न

उनका पुस्तकालय भी था, प्रवेश किया। मेरे द्वारा वहाँ अन्य दोनों सज्जनों का परिचय पाकर वे विशेष प्रसन्न हुए और हम लोगों से साहित्य-संबंधी वार्तालाप करने लगे। इसके पश्चात् उन्होंने हम लोगों को जलपान कराया और पान दिये। इस प्रकार लगभग दो घंटे तक हम लोग द्विवेदी जी के सस्त्रंग में आनंद मनाते रहे। अंत में हम लोगों के विदा लेने पर आप सड़क तक हम सबका भेजने आये और आदर-सरकार की नुस्खियों के लिए हमें समा मंगी।

स्वर्गवासी द्विवेदी जी शिष्टाचार के पूरे पालक थे, अतएव उन्हें किसी की थोड़ी भी अशिष्टता सहा नहीं होती थी। पूर्वोक्त अवसर पर जब द्विवेदी जी कुछ कह रहे थे तब मैं भूल से बीच में कुछ कह गया। इस पर उन्होंने कुछ रुखे होकर कहा कि आपके साथ बातचीत करना कठिन है! मैं नत-मस्तक होकर रह गया। द्विवेदी जी का स्वभाव जितना दयालु था उतना ही उग्र भी था, मानो वे 'सौं सति करि पुनि कहि' पसाऊ'। अनधिकारी लोगों के वार्तालाप तथा व्यवहार से उनके मन में ग्लानि होती थी। वे पत्रों का उत्तर बहुधा लौटती ढाकं से देते थे और जो उनके पत्र का उत्तर नहीं देता था उसे वे असह्य समझते थे तथा उसकी अवहेलना को अपना अपमान मानते थे।"

द्विवेदी जी का यह दस्तूर था कि जो कोई भी उनसे मिलने जाता उसे अपनी डिबिया से दो पान भेंट करते और बातचीत समाप्त कर लेने पर दो पान और भेंट करते, जो इस बात का इशारा था कि वस अब आप तशरीफ ले जाइए जैसा कि महात्मा गांधी भी बातचीत समाप्त करने पर कह देते हैं कि 'वस खलास।' इससे यह प्रकट होता है कि द्विवेदी जी व्यर्थ की बकवास और समय का नष्ट करना पसंद नहीं करते थे। उन्होंने कभी शत्रुता को उभारने की कोशिश नहीं की और न

प्रतिदिन लिखेंगे अवश्य। उस समय वे रेलवे के कर्मचारी थे और १० बजे से शाम के ६ बजे तक जुटकर काम करना पड़ता था। प्रतिदिन का काम समाप्त करके ही वे घर आते थे। इसलिए कभी-कभी बहुत रात तक काम करना पड़ता था। ऐसे दिन लिखने का काम—प्रण निभाना कठिन हो जाता था। पर हममें शायद ही कभी व्यतिक्रम हुआ हो। जिस दिन देर हो जाती थी, वे बिंदकी-गेट स्टेशन पर बैठकर ही एक घंटा लिख लिया करते थे और तब घर आते थे। 'सरस्वती' का काम करने हुए भी लिखने के लिए उन्हें इसी प्रकार दृढ़ रहना पड़ता था। यदि वे ऐसा न करते तो क्या यह संभव था कि संपादन का कार्य करके भी लगभग ५० पृष्ठ प्रतिमास लिख डालते। इसी प्रकार यदि वे किसी के घर आने का वादा कर लेते थे तो उसे अवश्य ही निभाते थे; लू-लपट और वर्षा की औद्यार में उन्हें रोक लेने को हमना नहीं थी। वे चाहते भी ऐसे ही लोगों को थे जो वादा करके उसे पूरा करना जानते थे। यदि कोई वादाखिलाती करता था तो उसे बुरी तरह फटकार दिया करते थे। लोग इससे कभी-कभी अप्रसन्न भी हो जाते थे; पर द्विवेदी जी ने कभी इसकी चिंता ही नहीं की—इस ओर भी वे सदैव दृढ़ ही रहे।

पंचायत

द्विवेदी जी अपने गाँव की पंचायत में सरपंच थे। उनकी पंचायत में किसी का भी मुकद्मा आ जाय परंतु वे अपनी न्यायप्रियता और स्पष्टवादिता कभी नहीं छोड़ते थे; चाहे उन्हें अपने हाथ से अपने किसी संबंधी को ही दंड देना पड़े, परंतु वे अंतःकरण से ठीक ही काम करेंगे। पहले वे आनरेरी मंसिफ थे। उस समय भी उनका कार्य-क्रम ऐसा ही रहता

प्रतिदिन लिखेंगे अवश्य । उस समय वे रेलवे के कर्मचारी थे और १० बजे से शाम के ६ बजे तक जुटकर काम करना पड़ता था । प्रतिदिन का काम समाप्त करके ही वे घर आते थे । इसलिए कभी-कभी बहुत रात तक काम करना पड़ता था । ऐसे दिन लिखने का काम—प्रण निभाना कठिन हो जाता था । पर हमें शायद ही कभी व्यतिक्रम हुआ हो । जिस दिन देर हो जाती थी, वे चिंदकी-रोड स्टेशन पर बैठकर ही एक घंटा लिख लिया करते थे और तब घर आते थे । 'सरस्वती' का काम करने हुए भी लिखने के लिए उन्हें इसी प्रकार दृढ़ रहना पड़ता था । यदि वे ऐसा न करते तो क्या यह संभव था कि संपादन का कार्य करके भी लगभग ५० पृष्ठ प्रतिमान लिख डालते । इसी प्रकार यदि वे किसी के घर आने का वादा कर लेते थे तो उसे अवश्य ही निभाते थे; लू-लपट और बर्षा की औद्यार में उन्हें रोक लेने की क्षमता नहीं थी । वे चाहते भी ऐसे ही लोगों को थे जो वादा करके उसे पूरा करना जानते थे । यदि कोई वादाखिलाती करता था तो उसे बुरी तरह फटकार दिया करते थे । लोग इससे कभी-कभी अप्रसन्न भी हो जाते थे; पर द्विवेदी जी ने कभी इसकी निंता ही नहीं की—इस ओर भी वे सदैव दृढ़ ही रहे ।

पंचायत

द्विवेदी जी अपने गाँव की पंचायत के सरपंच थे । उनकी पंचायत में किसी का भी मुकद्दमा आ जाय परंतु वे अपनी न्यायप्रियता और स्पष्टवादिता कभी नहीं छोड़ते थे; चाहे उन्हें अपने हाथ से अपने किसी संबंधी को ही दंड देना पड़े, परंतु वे अंतःकरण से ठीक ही काम करेंगे । पहले वे आनरेरी मंडिक थे । उस समय भी उनका कार्य-क्रम ऐसा ही रहता

भी इसमें त्रुटि नहीं होने दी। द्न्वीं वर्षगाँठ के अवसर पर जो उनका कृतज्ञताज्ञापन प्रकाशित हुआ था उससे भी उनकी विनम्रता का परिचय मिलता है। उसमें एक स्थान पर उन्होंने लिखा था—

“किसी किसी ने मेरी सरसठवीं वर्षगाँठ मनाई है। जान पड़ता है, इन सज्जनों के हृदय में मेरे विषय के वास्तव्यभाव की मात्रा कुछ अधिक है। इसी से उन्होंने मेरी उम्र एक वर्ष कम बता दी है।”

उनके इस ज्ञापन पर श्रीयुत शिवपूजनसहाय (जागरण-संपादक) ने ४ जून, १९३२ (ज्येष्ठ सं० १९८६) में यह लिखा था—

“लेकिन उन सज्जनों का इसमें कोई दोष नहीं। थाराध्यदेव की सेवा में तत्पर श्रद्धालु भक्त कभी-कभी इतना तन्मय हो जाता है कि गले की माला चरणों पर ही हाथ से छुट पड़ती है। अस्तु।”

‘सरस्वती’-संपादन-कार्य से छुट्टी लेते समय ‘संपादक की विदाई’-शीर्षक जो लेख द्विवेदी जी ने लिखा है, वह भी विनम्रता का अच्छा नमूना है।

सादगी

रेलवे में वावू की हैसियत से द्विवेदी जी कोट और पतलून पहना करते थे। ‘सरस्वती’ का काम करने पर भी कुछ दिन तक वे यही पोशाक पहनते रहे। पर उनकी यह पोशाक देशी कपड़े की होती थी और उनकी रहन-सहन बिलकुल सादी थी। वाद को उन्होंने पतलून को भी त्याग दिया। उनके सिर पर चार-छः आने की मामूली टोपी रहती थी और वदन पर एक साधारण

भी इसमें त्रुटि नहीं होने दी। दसवीं वर्षगाँठ के अवसर पर जो उनका कृतज्ञताज्ञापन प्रकाशित हुआ था उससे भी उनकी विनम्रता का परिचय मिलता है। उसमें एक स्थान पर उन्होंने लिखा था—

“किसी किसी ने मेरी सरसठवीं वर्षगाँठ मनाई है। जान पड़ता है, इन सज्जनों के हृदय में मेरे विषय के वास्तव्यभाव की मात्रा कुछ अधिक है। इसी से उन्होंने मेरी उम्र एक वर्ष कम बता दी है।”

उनके इस ज्ञापन पर श्रीयुत शिवपूजनसहाय (जागरण-संपादक) ने ४ जून, १९३२ (ज्येष्ठ सं० १९८६) में यह लिखा था—

“लेकिन उन सज्जनों का हृदयमें कोई दोष नहीं। आराध्यदेव की सेवा में तत्पर श्रद्धालु भक्त कभी-कभी इतना तन्मय हो जाता है कि गले की साला चरणों पर ही हाथ से छुट पड़ती है। अस्तु।”

‘सरस्वती’-संपादन-कार्य से छुट्टी लेते समय ‘संपादक की विदाई’-शोषक जो लेख द्विवेदी जी ने लिखा है, वह भी विनम्रता का अच्छा नमूना है।

सादगी

रेलवे में बावू की हैसियत से द्विवेदी जी कोट और पतलून पहना करते थे। ‘सरस्वती’ का काम करने पर भी कुछ दिन तक वे यही पोशाक पहनते रहे। पर उनकी यह पोशाक देशी कपड़े की होती थी और उनकी रहन-सहन बिलकुल सादी थी। बाद को उन्होंने पतलून को भी त्याग दिया। उनके सिर पर चार-छः आने की मामूली टोपी रहती थी और वदन पर एक साधारण

रक्खा। उन पर तरह-तरह के कष्ट पड़े; पर वे कभी विचलित न हुए और न दूसरों के आगे अपना रोना ही रोया। वे अपनी माता जी पर अधिक भक्ति रखते थे। कालांतर में उनका स्वर्ग-वास हुआ। अपनी स्त्री से उन्हें बहुत प्रेम था। थोड़ी ही अवस्था में वे भी इनको अकेला छोड़ गईं। इसी प्रकार कई अन्य संबंधियों का भी विछोह हुआ। हृदय पर पत्थर रखकर द्विवेदी जी ने सब सहा; पर मुँह से उफ नहीं की।

व्यवस्था और नियमन

सुनते हैं, वाल्टर स्काट जिस कमरे में बैठकर लिखा करते थे वह गंदी गली में था और उस कमरे में कभी सफाई नहीं होती थी। बात ठीक हो या न हो, पर इससे यह ध्वनि अवश्य निकलती है कि वह व्यवस्था-प्रिय न था, आलसी था। द्विवेदी जी को इस प्रकार की अव्यवस्था बिलकुल पसन्द नहीं थी। वे स्वयं सब सफाई अपने हाथ से करते थे। घर में जो चीज जहाँ रक्खी जाती है वह वहीं अपने स्थान पर रक्खी जानी चाहिए। टोपी या छड़ी रखने की जगह पर कोट या जूते नहीं रक्खे जा सकते थे। इसी प्रकार वे पुस्तकों को भी निश्चित स्थान पर ही रखते थे। यदि कोई पुस्तक अपनी जगह से हट या गायब हो जाती थी तो उन्हें तुरंत मालूम हो जाता कि कोई गड़बड़ हुआ है। वे घरवालों से पूछताछ कर तुरंत पता लगा लेते थे। पुस्तकों की सफाई तो वे वृद्धावस्था में भी रोज़ करते थे। पुस्तकें उन्हें प्राणों से भी अधिक प्यारी थीं। गाँव में पुस्तक केवल उन्हीं लोगों को देते थे जिनके बारे में यह जानते थे कि ये पुस्तक पढ़कर समझ सकते हैं। जो व्यक्ति उनसे पुस्तक ले जाता था उसे निश्चित समय में ज्यों की त्यों वापस करनी पड़ती थी। द्विवेदी जी की सुव्यवस्था का प्रभाव

खा। उन पर तरह-तरह के कष्ट पड़े; पर वे कभी विचलित हुए और न दूसरों के आगे अपना रोना ही रोया। वे अपनी ता जी पर अधिक भक्ति रखते थे। कालांतर में उनका स्वर्ग-स हुआ। अपनी स्त्री से उन्हें बहुत प्रेम था। थोड़ी ही अवस्था वे भी इनको अकेला छोड़ गईं। इसी प्रकार कई अन्य संबंधियों का भी विछोह हुआ। हृदय पर पत्थर रखकर द्विवेदी जी सब सहा; पर मुँह से उफ़ नहीं की।

व्यवस्था और नियमन

सुनते हैं, वाल्टर स्काट जिस कमरे में बैठकर लिखा करते वह गंदी गली में था और उस कमरे में कभी सफ़ाई होती थी। बात ठीक हो या न हो, पर इससे यह ध्वनि शय निकलती है कि वह व्यवस्था-प्रिय न था, आलसी। द्विवेदी जी को इस प्रकार की अव्यवस्था बिलकुल पसन्द थी। वे स्वयं सब सफ़ाई अपने हाथ से करते थे। घर तो चीज़ जहाँ रक्खी जाती है वह वहीं अपने स्थान पर रखी जानी चाहिए। टोपी या छड़ी रखने की जगह पर कोट जूते नहीं रक्खे जा सकते थे। इसी प्रकार वे पुस्तकों को भी रचित स्थान पर ही रखते थे। यदि कोई पुस्तक अपनी जगह टूट या गायब हो जाती थी तो उन्हें तुरंत मालूम हो जाता कोई गड़बड़ हुआ है। वे घरवालों से पूछताछ कर तुरंत लगा लेते थे। पुस्तकों की सफ़ाई तो वे वृद्धावस्था में भी करते थे। पुस्तकें उन्हें प्राणों से भी अधिक प्यारी थीं। में पुस्तक केवल उन्हीं लोगों को देते थे जिनके बारे में जानते थे कि ये पुस्तक पढ़कर समझ सकते हैं। जो व्यक्ति पुस्तक ले जाता था उसे निश्चित समय में ज्यों की त्यों त करनी पड़ती थी। द्विवेदी जी की सुव्यवस्था का प्रभाव

धर्मपत्नी ने थाली में खाद्य पदार्थ उस सिलसिले में नहीं रक्खे थे जिसमें द्विवेदी जी नित्यप्रति रखवाते थे, अतएव उनको भी स्नेह-मिश्रित भर्त्सना सुननी पड़ी।”

द्विवेदी जी की सफाई और व्यवस्था-प्रेम का पंडित लक्ष्मीधर वाजपेयी ने बड़ा सुन्दर चित्र निम्न शब्दों में खींचा है—

“घर के सामने पक्का कुआँ, छोटी-सी फुलवाड़ी, अगल-बगल में हिंदी-पाठशाला, ढाकघर, अतिविशाला, गोशाला, सब उसी घर से मिले हुए छोटे दायरे में थे। सामने ही मैदान में एक ओर एक पक्का चबूतरा और उस पर छोटा-सा महावीर जी का मंदिर, फिर माता जी (आचार्य-पत्नी) का मंदिर, फिर एक बड़ा-सा गहरा तालाब ! प्रथम दर्शन में ही उस बीहड़ देहात में यह दृश्य सचमुच एक तीर्थस्थान-सा दिखाई दिया। मैं सामने ही चबूतरे पर चढ़कर पादत्राण बाहर उतार एकदम आचार्य के बैठके में घुस गया। आप एक बंडी पहने हुए, बिलकुल देहाती—वज्र गवाँर-से—एक छोटा-सा झाड़न लिये आत्मचारियों की अपनी पुस्तकें पोंछ रहे थे। पुस्तकों में धूल चढ़ी हुई नहीं थी; पर आचार्य का यह क्रम था कि प्रतिदिन सुबह उठकर पहले सफाई का काम करते और देखते थे। तमाम कमरा साफ़, सामान साफ़, जहाँ का तहाँ चाक्रायदा। बाहर चबूतरा बिलकुल साफ़ झाड़ा हुआ !

आचार्य छोटा-सा झाड़न लिये सिर झुकाये कितानें झाड़ रहे थे। मैं एकदम गया, और पैर छुए। आपने सिर ऊपर उठाया; आर मेरी ओर अपनी स्वाभाविक जलदगंभीर, पर मधुर स्नेह से भरी हुई ध्वनि से बोल उठे—‘लक्ष्मीधर !’ एक-दो कुशल प्रश्न की बातें हुईं और आचार्य फिर पुस्तकें पोंछने में लग गये। मैं बाहर तालाब की तरफ़ जाकर जंगल की तरफ़ इधर-उधर देखने लगा। पाँच-सात मिनट बाद आया तब देखता क्या हूँ कि मेरे पादत्राण जो कमरे के बाहर दरवाज़े

धर्मपत्नी ने थाली में खाद्य पदार्थ उस सिलसिले में नहीं रखे थे जिसमें द्विवेदी जी नित्यप्रति रखवाते थे, अतएव उनको भी स्नेह-मिश्रित भर्त्सना सुननी पड़ी।”

द्विवेदी जी की सफ़ाई और व्यवस्था-प्रेम का पंडित लक्ष्मीधर वाजपेयी ने बड़ा सुन्दर चित्र निम्न शब्दों में खींचा है—

“घर के सामने पक्का कुआँ, छोटी-सी फुलवाड़ी, अगल-बगल में हिंदी-पाठशाला, डाकघर, अतिविशाला, गोशाला, सब उसी घर से मिले हुए छोटे दायरे में थे। सामने ही मैदान में एक ओर एक पक्का चबूतरा और उस पर छोटा-सा महावीर जी का मंदिर, फिर माता जी (आचार्य-पत्नी) का मंदिर, फिर एक बड़ा-सा गहरा तालाब ! प्रथम दर्शन में ही उस वीहड़ देहात में यह दृश्य सचमुच एक तीर्थस्थान-सा दिखाई दिया। मैं सामने ही चबूतरे पर चढ़कर पादत्राण बाहर उतार एकदम आचार्य के बैठके में घुस गया। आप एक बंडी पहने हुए, बिलकुल देहाती—वज्र गवॉर-से—एक छोटा-सा झाड़न लिये आत्ममारियों की अपनी पुस्तकें पोंछ रहे थे। पुस्तकों में धूल चढ़ी हुई नहीं थी; पर आचार्य का यह क्रम था कि प्रतिदिन सुबह उठकर पहले सफ़ाई का काम करते और देखते थे। तमाम कमरा साफ़, सामान साफ़, जहाँ का तहाँ बाक्लायदा। बाहर चबूतरा बिलकुल साफ़ झाड़ा हुआ !

आचार्य छोटा-सा झाड़न लिये सिर झुकाये किताबें झाड़ रहे थे। मैं एकदम गया, और पैर छुए। आपने सिर ऊपर उठाया; आर मेरी ओर अपनी स्वाभाविक जलदगंभीर, पर मधुर स्नेह से भरी हुई ध्वनि से बोल उठे—‘लक्ष्मीधर !’ एक-दो कुशल प्रश्न की बातें हुईं और आचार्य फिर पुस्तकें पोंछने में लग गये। मैं बाहर तालाब की तरफ़ जाकर जंगल की तरफ़ इधर-उधर देखने लगा। पाँच-सात मिनट बाद आया तब देखता क्या हूँ कि मेरे पादत्राण जो कमरे के बाहर दरवाज़े

से दूसरे भी प्रसन्न हो जाते थे, किसी को दुःख नहीं होता था। उनके साथ बातचीत करने में एक विशेष प्रकार का आनंद आता था। उनकी बातों में कुछ अनोखापन और आकर्षण रहता था। प्रायः अपने संभाषण में वे साहित्यिक पुट भी जमाते जाते थे। व्यंग्य तो उसकी जान थी और उनका व्यंग्य सारगर्भित होता था। उनसे मिलने और बातचीत करने पर शायद ही कोई व्यक्ति ऐसा हो जिस पर कुछ प्रभाव न पड़ा हो। एक बार वे अपने आफिस में अपने दो-एक मित्रों के साथ बैठे थे। डाक आई। जो लेख आये उनमें कुछ लेख विलकुल रदी थे। ऐसे लेखों के सुधारने में द्विवेदी जी को बड़ा परिश्रम करना पड़ता था। अतः उनके एक मित्र ने टोका—आप ऐसे लेख स्वीकार ही क्यों करते हैं? आपने मुस्कराकर उत्तर दिया—‘द्वार पर आनेवाले का स्वागत करना हिन्दू-मात्र का धर्म है।’ आज के संपादक उनके इस वाक्य से अपने ‘सिद्धान्त-वाक्य’ की तुलना करके देखें तो उन्हें द्विवेदी जी की महत्ता का कुछ अनुभव हो सकेगा।

एक बार द्विवेदी जी स्वर्गीय श्रीपद्मसिंह शर्मा की प्रेरणा से ज्वालापुर गये। आने के पहले आपने तार दिया—“मैं आ रहा हूँ। सवारी का प्रबंध करना। पन्द्रह बजे (तीन बजे) दिन को पहुँचूँगा (Reaching Jabbalpore manage conveyance fifteen hours) तारवावू ने भूल से hour की जगह horse लिख दिया, जिसका अर्थ यह निकाला गया कि १५ घोड़े की गाड़ी का प्रबंध करो। लोग बड़े परेशान हुए। जब द्विवेदी जी ज्वालापुर पहुँचे और उन्हें वह तार दिखाया गया तब उन्होंने जाकर तारवावू से विनोदपूर्वक कहा—“वाह वावू जी ! वाह ! खूब किया।” बेचारा तारवावू खिसिया गया। इसी प्रकार जब द्विवेदी-मेले के अवसर पर

से दूसरे भी प्रसन्न हो जाते थे, किसी को दुःख नहीं होता था। उनके साथ बातचीत करने में एक विशेष प्रकार का आनन्द आता था। उनकी बातों में कुछ अनोखापन और आकर्षण रहता था। प्रायः अपने संभाषण में वे साहित्यिक पुट भी जमाते जाते थे। व्यंग्य तो उसकी जान थी और उनका व्यंग्य सारगर्भित होता था। उनसे मिलने और बातचीत करने पर शायद ही कोई व्यक्ति ऐसा हो जिस पर कुछ प्रभाव न पड़ा हो। एक बार वे अपने आफिस में अपने दो-एक मित्रों के साथ बैठे थे। डाक आई। जो लेख आये उनमें कुछ लेख विलकुल रही थे। ऐसे लेखों के सुधारने में द्विवेदी जी को बड़ा परिश्रम करना पड़ता था। अतः उनके एक मित्र ने टोका—आप ऐसे लेख स्वीकार ही क्यों करते हैं? आपने मुस्कराकर उत्तर दिया—‘द्वार पर आनेवाले का स्वागत करना हिन्दू-मात्र का धर्म है।’ आज के संपादक उनके इस वाक्य से अपने ‘सिद्धान्त-वाक्य’ की तुलना करके देखें तो उन्हें द्विवेदी जी की महत्ता का कुछ अनुभव हो सकेगा।

एक बार द्विवेदी जी स्वर्गीय श्रीपद्मसिंह शर्मा की प्रेरणा से ज्वालापुर गये। आने के पहले आपने तार दिया—“मैं आ रहा हूँ। सवारी का प्रबंध करना। पन्द्रह बजे (तीन बजे) दिन को पहुँचूँगा (Reaching Jubbulpore manage conveyance fifteen hours) तारवावू ने भूल से hour की जगह horse लिख दिया, जिसका अर्थ यह निकाला गया कि १५ घोड़े की गाड़ी का प्रबंध करो। लोग बड़े परेशान हुए। जब द्विवेदी जी ज्वालापुर पहुँचे और उन्हें वह तार दिखाया गया तब उन्होंने जाकर तारवावू से विनोदपूर्वक कहा—“वाह वावू जी ! वाह ! खूब किया।” बेचारा तारवावू खिसिया गया। इसी प्रकार जब द्विवेदी-मेले के अवसर पर

करते थे । द्विवेदी जी पत्र लिखने बैठते थे तब बाहर से कोई वच्चा पूछता था—

“बाबा, का लिखत है ?”

“मुनिया का चिट्ठी लिखत है ।”

“मुन्नी—कमलाकिशोर जी की बेटी—का जानत है ।”—चिट्ठी लिखते-लिखते द्विवेदी जी फिर वच्चे को छेड़ते थे ।

“हाँ ।”

“मुन्नी कहाँ रहति है ?”

“इलाहाबाद ।”

“हाँ, जानत हो ।”

और वच्चा उछलता-कूदता अपने ज्ञान पर गर्व करता चला जाता था ।

द्विवेदी जी अपनी धर्म-पत्नी से भी बहुत संतुष्ट थे । पूज्य माता जी में गुण भी ऐसे ही थे । रेल की २०० की नौकरी छोड़कर जब द्विवेदी जी आये तब भी सुना जाता है, उन्होंने किसी प्रकार का असंतोष न प्रकट किया; वरन् सुख और संतोष के साथ यही कहा—अगर तुम मेहनत-मजदूरी करके आठ आने भी कमा लाओगे तो मैं उसी में संतोष कर लूँगी । इन्हें द्विवेदी जी बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे । अपनी धर्म-पत्नी की मृत्यु के समय द्विवेदी जी की अवस्था अधिक नहीं थी, कान्यकुब्जों में एक स्त्री के होते हुए भी दूसरा विवाह कर लेने का चलन रहा है और जब पहली स्त्री को कोई भयानक रोग हो और उनके संतान भी न होती हो तब तो दूसरा विवाह कर लेना कोई अनहोनी बात नहीं थी ।

करते थे । द्विवेदी जी पत्र लिखने बैठते थे तब बाहर से कोई वच्चा पूछता था—

“बाबा, का लिखत है ?”

“मुनिया का चिट्ठी लिखत है ।”

“मुन्नी—कमलाकिशोर जी की बेटी—का जानत है ।”—चिट्ठी लिखते-लिखते द्विवेदी जी फिर वच्चे को छेड़ते थे ।

“हाँ ।”

“मुन्नी कहाँ रहति है ?”

“इलाहाबाद ।”

“हाँ, जानत हो ।”

और वच्चा उछलता-कूदता अपने ज्ञान पर गर्व करता चला जाता था ।

द्विवेदी जी अपनी धर्म-पत्नी से भी बहुत संतुष्ट थे । पूज्य माता जी में गुण भी ऐसे ही थे । रेल की २००) की नौकरी छोड़कर जब द्विवेदी जी आये तब भी सुना जाता है, उन्होंने किसी प्रकार का असंतोष न प्रकट किया; वरन सुख और संतोष के साथ यही कहा—अगर तुम मेहनत-मजदूरी करके आठ आने भी कमा लाओगे तो मैं उसी में संतोष कर लूँगी । इन्हें द्विवेदी जी बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे । अपनी धर्म-पत्नी की मृत्यु के समय द्विवेदी जी की अवस्था अधिक नहीं थी, कान्यकुब्जों में एक स्त्री के होते हुए भी दूसरा विवाह कर लेने का चलन रहा है और जब पहली स्त्री को कोई भयानक रोग हो और उनके संतान भी न होती हो तब तो दूसरा विवाह कर लेना कोई अनहोनी बात नहीं थी ।

वात यह थी कि आचार्य-पत्नी के घर में उनके पड़ोस की उनकी एक सहेली बैठती-उठती थीं। दोनों में बड़ा प्रेम था। सहेली ने माता जी से कहा कि महावीर जी की पुरानी मूर्ति दरवाजे पर चुजुर्गों की स्थापित पड़ी है, इसके लिए एक पक्का चवूतरा बन जाता तो अच्छा था। माता जी ने उस सहेली की सलाह से चवूतरा बनवा दिया और महावीर जी के लिए वहीं एक मठिया भी। इसी पर आज उन्होंने हँसी में अपने पतिदेव से अचानक कह दिया ! उनको क्या मालूम था कि यह महावीर उनको कितना पूजते हैं ! महावीर के ऊपर भी दीवार में द्विवेदी जी के रचे हुए श्लोक खचित हैं, जिनमें माता जी और उनकी सहेली की प्रशस्ति है।

द्विवेदी जी अपनी माता जी पर भी बड़ी भक्ति रखते थे। यह बात हमें श्रीपरमानंद चतुर्वेदी नामक एक सज्जन के द्विवेदी जी को लिखे हुए एक पत्र से मालूम हुई है। पत्र ११ मार्च १९०८ को लिखा गया था। पत्र इस प्रकार है—

“द्विवेदी जी महाराज,

नमस्कार—आज भट्ट गिरिधरलाल जी मुझसे मिलने आये थे। उन्होंने आपके अजमेर जाने का जिक्र किया था और उनकी बातों से यह भी पाया गया कि आपकी अपनी माता जी की तरफ अधिक भक्ति है।

११ मार्च, १९०८ परमानंद चतुर्वेदी।”

गुण-ग्राहकता

द्विवेदी जी में एक और गुण था। यह था उनकी गुण-ग्राहकता। संपादक हो जाने पर कुछ लोग “हमधुनी दीगरे

बात यह थी कि आचार्य-पत्नी के घर में उनके पड़ोस की उनकी एक सहेली बैठती-उठती थीं। दोनों में बड़ा प्रेम था। सहेली ने माता जी से कहा कि महावीर जी की पुरानी मूर्ति दरवाजे पर चुजुर्गों की स्थापित पड़ी है, इसके लिए एक पक्का चबूतरा बन जाता तो अच्छा था। माता जी ने उस सहेली की सलाह से चबूतरा बनवा दिया और महावीर जी के लिए वहीं एक मठिया भी। इसी पर आज उन्होंने हँसी में अपने पतिदेव से अचानक कह दिया ! उनको क्या मालूम था कि यह महावीर उनको कितना पूजते हैं ! महावीर के ऊपर भी दीवार में द्विवेदी जी के रचे हुए श्लोक खचित हैं, जिनमें माता जी और उनकी सहेली की प्रशस्ति है।

द्विवेदी जी अपनी माता जी पर भी बड़ी भक्ति रखते थे। यह बात हमें श्रीपरमानंद चतुर्वेदी नामक एक सज्जन के द्विवेदी जी को लिखे हुए एक पत्र से मालूम हुई है। पत्र ११ मार्च १९०८ को लिखा गया था। पत्र इस प्रकार है—

“द्विवेदी जी महाराज,

नमस्कार—आज भट्ट गिरिधरलाल जी मुझसे मिलने आये थे। उन्होंने आपके अजमेर जाने का जिक्र किया था और उनकी बातों से यह भी पाया गया कि आपकी अपनी माता जी की तरफ अधिक भक्ति है।

११ मार्च, १९०८

परमानंद चतुर्वेदी।”

गुण-ग्राहकता

द्विवेदी जी में एक और गुण था। यह था उनकी गुण-ग्राहकता। संपादक हो जाने पर कुछ लोग “हमचुनी दीगरे

होती थीं, उनका पारिचय, बड़ी विशदता से, 'सरस्वती' में प्रकाशित किया जाता था और अनेक साधुवाद-धन्यवाद देकर लेखक का आदर किया जाता था। नये विषयों की कई पुस्तकों की आलोचना 'सरस्वती' में निकली थी; पर प्रचलित विषयों की खोज करके लिखनेवाले अधिक नहीं थे। मेरा आशय हिंदी-वालों से है। हिंदी-भाषा-भाषी, लाख अनुनय-विनय करने पर भी इस ओर ध्यान न देते थे। हाँ, मराठी, बँगला के लेखक अवश्य प्रयत्नशील थे। द्विवेदी जी उनसे ही आशा रखते थे और बड़ी श्रद्धा से उनका नाम लिया करते थे। सुप्रसिद्ध मराठी-लेखक और ग्रंथकार रायवहादुर चिंतामणि विनायक वैद्य, एम० ए०, एल०-एल० बी० के मराठी में लिखे हुए अवलोकन-लेख-माला के लेखों से प्रभावित होकर द्विवेदी जी ने लिखा था—

“उन्हें (अवलोकन-लेखमाला के लेख) पढ़कर हमारे हृदय में लेखक महाशय के विषय में श्रद्धा का अंकुर उग आया। उनके अन्यान्य ग्रंथ और लेख पढ़ते-पढ़ते वह अंकुर बढ़कर विशाल वृक्ष हो गया। महाभारत-विषयक उनका ग्रंथ पढ़कर हमने बहुत अधिक लाभ उठाया। इस ग्रंथ में वैद्य महाशय ने महाभारत से संबंध रखनेवाले प्रायः सभी विषयों का जिस योग्यता से विचार किया है और उनकी तुलनामूलक आलोचना करने में उन्होंने जिस बुद्धि-दाक्षिण्य और सदसद्विवेचना का परिचय दिया है, उसकी बार-बार प्रशंसा करने को जी चाहता है।”

हिंदी-हितैषियों और सेवकों के विषय में उनका यह आदर-भाव और भी बढ़ा-चढ़ा था। यह स्वाभाविक था और उनकी प्रशंसा में लिखे हुए विचार उनके हृदय से निकले हुए होते थे। इसका एक उदाहरण आज से ३५ वर्ष पहले का है। 'सरस्वती' के संपादक होने के पहले ही बाबू श्यामसुन्दरदास की हिंदी-

होती थीं, उनका परिचय, बड़ी विशदता से, 'सरस्वती' में प्रकाशित किया जाता था और अनेक साधुवाद-धन्यवाद देकर लेखक का आदर किया जाता था। नये विषयों की कई पुस्तकों की आलोचना 'सरस्वती' में निकली थी; पर प्रचलित विषयों की खोज करके लिखनेवाले अधिक नहीं थे। मेरा आशय हिंदी-वालों से है। हिंदी-भाषा-भाषी, लाख अनुनय-विनय करने पर भी इस ओर ध्यान न देते थे। हाँ, मराठी, बँगला के लेखक अवश्य प्रयत्नशील थे। द्विवेदी जी उनसे ही आशा रखते थे और बड़ी श्रद्धा से उनका नाम लिया करते थे। सुप्रसिद्ध मराठी-लेखक और ग्रंथकार रायबहादुर चिंतामणि विनायक वैद्य, एम० ए०, एल०-एल० बी० के मराठी में लिखे हुए अवलोकन-लेख-माला के लेखों से प्रभावित होकर द्विवेदी जी ने लिखा था—

“उन्हें (अवलोकन-लेखमाला के लेख) पढ़कर हमारे हृदय में लेखक महाशय के विषय में श्रद्धा का अंकुर उग आया। उनके अन्यान्य ग्रंथ और लेख पढ़ते-पढ़ते वह अंकुर बढ़कर विशाल वृक्ष हो गया। महाभारत-विषयक उनका ग्रंथ पढ़कर हमने बहुत अधिक लाभ उठाया। इस ग्रंथ में वैद्य महाशय ने महाभारत से संबंध रखनेवाले प्रायः सभी विषयों का जिस योग्यता से विचार किया है और उनकी तुलनामूलक आलोचना करने में उन्होंने जिस बुद्धि-दान्तिष्ठ और सदसद्विवेचना का परिचय दिया है, उसकी बार-बार प्रशंसा करने को जी चाहता है।”

हिंदी-हितैषियों और सेवकों के विषय में उनका यह आदर-भाव और भी बढ़ा-चढ़ा था। यह स्वाभाविक था और उनकी प्रशंसा में लिखे हुए विचार उनके हृदय से निकले हुए होते थे। इसका एक उदाहरण आज से ३५ वर्ष पहले का है। 'सरस्वती' के संपादक होने के पहले ही बाबू श्यामसुन्दरदास की हिंदी-

जन्म देकर इस विषय में पथ-प्रदर्शक न बनती तो शायद बहुत दिनों तक वैसी पत्रिकाओं के दर्शन न होते। मेरी मंद बुद्धि-तों यही कहती है कि नागरी-लिपि के प्रचार और हिंदी-भाषा के साहित्य के उद्धार के लिए इस सभा ने जितना काम किया है, उतना काम न तो किसी अन्य संस्था ने ही किया और न अनेक साहित्य-सेवियों ने सम्मिलित रूप से ही किया। इसके उद्योग से बना हुआ हिंदी-भाषा का कोष और व्याकरण बड़े ही महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं। यदि यह इस ओर दत्तचित्त न होती तो शायद हिंदी-साहित्य के ये दोनों अंग अपनी उन्नतावस्था में अब तक देखने ही को न मिलते।”

ये वाक्य उसी सभा की “प्रशंसा” में लिखे गये हैं जिसके कार्यों की कटु आलोचना उन्होंने १९०५ में की थी। उस समय सभा की स्थिति भी कुछ वैसी ही थी; परंतु इस बार स्वयं द्विवेदी जी ने आगे चल कर कहा है—

“आप बनावट न समझिए, मैं शुद्ध हृदय से इस बात को स्वीकार करता हूँ कि मैं इस सभा का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। इसे तो मैं अपनी गुरुस्थानीय ही नहीं, अन्नदात्री तक समझने को तैयार हूँ। यदि इस सभा के कुछ प्रमुख कार्यकर्ता इण्डियन प्रेस से ‘सरस्वती’ का प्रकाशन न कराते तो मैं हिंदी लिखने और उसके साहित्य की थोड़ी-बहुत चेष्टा करने में कदापि समर्थ न होता। यह इस सभा का ही प्रभाव, प्रसाद या प्रताप है, जो मैं आज एक विशेष निमित्त की पूर्ति के लिए काशी में उपस्थित हुआ हूँ।”

ये हैं गुण-ग्राहक द्विवेदी जी के सच्चे हृदयोद्गार। इन वाक्यों पर गौर करने से यह भी पता चल जायगा कि सभापति के आसन से शिष्टाचार और सज्जनता की रक्षा के लिए ही ये प्रशंसात्मक वाक्य नहीं लिखे गये हैं।

जन्म देकर इस विषय में पथ-प्रदर्शक बनती तो शायद बहुत दिनों तक वैसी पत्रिकाओं के दर्शन न होते। मेरी मंद बुद्धि तो यही कहती है कि नागरी-लिपि के प्रचार और हिंदी-भाषा के साहित्य के उद्धार के लिए इस सभा ने जितना काम किया है, उतना काम न तो किसी अन्य संस्था ने ही किया और न अनेक साहित्य-सेवियों ने सम्मिलित रूप से ही किया। इसके उद्योग से बना हुआ हिंदी-भाषा का कोष और व्याकरण बड़े ही महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं। यदि यह इस ओर दत्तचित्त न होती तो शायद हिंदी-साहित्य के ये दोनों अंग अपनी उन्नतावस्था में अब तक देखने ही को न मिलते।”

ये वाक्य उसी सभा की प्रशंसा में लिखे गये हैं जिसके कार्यों की कटु आलोचना उन्होंने १९०५ में की थी। उस समय सभा की स्थिति भी कुछ वैसी ही थी; परंतु इस बार स्वयं द्विवेदी जी ने आगे चल कर कहा है—

“आप बनावट न समझिए, मैं शुद्ध हृदय से इस बात को स्वीकार करता हूँ कि मैं इस सभा का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। इसे तो मैं अपनी गुरुस्थानीय ही नहीं, अन्नदात्री तक समझने को तैयार हूँ। यदि इस सभा के कुछ प्रमुख कार्यकर्ता इण्डियन प्रेस से ‘सरस्वती’ का प्रकाशन न कराते तो मैं हिंदी लिखने और उसके साहित्य की थोड़ी-बहुत चेष्टा करने में कदापि समर्थ न होता। यह इस सभा का ही प्रभाव, प्रसाद या प्रताप है, जो मैं आज एक विशेष निमित्त की पूर्ति के लिए काशी में उपस्थित हुआ हूँ।”

ये हैं गुण-ग्राहक द्विवेदी जी के सच्चे हृदयोद्गार। इन वाक्यों पर गौर करने से यह भी पता चल जायगा कि सभापति के आसन से शिष्टाचार और सज्जनता की रक्षा के लिए ही ये प्रशंसात्मक वाक्य नहीं लिखे गये हैं।

इदमेव हि पाण्डित्यमियमेव विदग्धता ।

अयमेव परो धर्मो यदायान्नाधिको व्ययः ॥

अर्थात्—जो प्राप्ति से अधिक व्यय नहीं होने देता वही पंडित है, वही चतुर है और वही धर्मात्मा भी है। मितव्ययिता का गुण होते हुए भी वे अपने संबंधियों तथा और लोगों को यथावसर आर्थिक सहायता देते रहे। अँगरेजी में एक कहावत है—*Liberality does not consist in giving much but in giving at the right moment.* अर्थात् बहुत देने से ही उदारता नहीं होती, बल्कि आवश्यकता के समय पर देने से दानशीलता समझी जाती है। द्विवेदी जी की उदारता भी ठीक इसी प्रकार की थी। अपने गाँव में, लड़कियों की शादी में, गरीब व छोटी जाति के मनुष्यों की दीनावस्था में, और विधवा स्त्रियों के संकट-समय में, वे सदा सहायता देते रहे। दूसरी ओर काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा को अपना प्राणों से भी प्रिय ग्रंथ-भंडार दान दे दिया। उसमें 'सरस्वती' की पुरानी कापी, शुरू से आज तक का समस्त पत्र-व्यवहार और अखबारों की कतरनों के बंडल हैं। ग्रंथों से आठ अलमारियाँ भरी हैं और बंडलों से दो। इन सब बंडलों की छान-बीन करने के लिए नियमित रूप से ६ महीने की आवश्यकता है।

आत्माभिमान

जो नवयुवक साहित्य-सेवी स्वाभिमान और आत्मसम्मान के साथ जिंदगी बसर करना चाहते हों वे द्विवेदी जी से इस विषय में भी अनेक बातें सीख सकते हैं। यह बात बहुत-से पाठकों को न मालूम होगी कि द्विवेदी जी ने २०० की नौकरी छोड़कर २३) की नौकरी की थी। रेलवे ट्रैफिक-विभाग में वे

इदमेव हि पाणिद्वयमियमेव विदग्धता ।

अयमेव परो धर्मो यदायात्राधिको व्ययः ॥

अर्थात्—जो प्राप्ति से अधिक व्यय नहीं होने देता वही पंडित है, वही चतुर है और वही धर्मात्मा भी है। मितव्ययिता का गुण होते हुए भी वे अपने संबंधियों तथा और लोगों को यथावसर आर्थिक सहायता देते रहे। अँगरेजी में एक कहावत है—Liberality does not consist in giving much but in giving at the right moment. अर्थात् बहुत देने से ही उदारता नहीं होती, बल्कि आवश्यकता के समय पर देने से दानशीलता समझी जाती है। द्विवेदी जी की उदारता भी ठीक इसी प्रकार की थी। अपने गाँव में, लड़कियों की शादी में, गरीब व छोटी जाति के मनुष्यों की दीनावस्था में, और विधवा स्त्रियों के संकट-समय में, वे सदा सहायता देते रहे। दूसरी ओर काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा को अपना प्राणों से भी प्रिय ग्रंथ-भंडार दान दे दिया। उसमें 'सरस्वती' की पुरानी कापी, शुरू से आज तक का समस्त पत्र-व्यवहार और अखबारों की कतरनों के बंडल हैं। ग्रंथों से आठ अलमारियाँ भरी हैं और बंडलों से दो। इन सब बंडलों की छान-चीन करने के लिए नियमित रूप से ६ महीने की आवश्यकता है।

आत्माभिमान

जो नवयुवक साहित्य-सेवी स्वाभिमान और आत्मसम्मान के साथ जिंदगी बसर करना चाहते हों वे द्विवेदी जी से इस विषय में भी अनेक बातें सीख सकते हैं। यह बात बहुत-से पाठकों को न मालूम होगी कि द्विवेदी जी ने २००) की नौकरी छोड़कर २३) की नौकरी की थी। रेलवे ट्रैफिक-विभाग में वे

gentleman and I must warn you against your having recourse to such language in future; should you have occasion to write to me again."

इसी प्रकार एक दूसरे महाशय के लेख को अपमान-सूचक समझकर उन्होंने मानहानि का दावा दायर करने का नोटिस दिया था । इसकी कथा इस प्रकार है—

सितंबर सन् १९०८ की 'सरस्वती' के पृष्ठ ४१५ पर 'आर्य शब्द की व्युत्पत्ति'-शीर्षक एक लेख छपा था । वह बँगला 'प्रवासी' में प्रकाशित श्री महेशचन्द्र घोष के एक लेख के आधार पर लिखा गया था । उसी लेख के संबंध में १६ नवम्बर, १९०८ के 'आर्य-मित्र' में पण्डित नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ ने एक आलोचनात्मक लेख लिखा था; किंतु इसके पहले ही २४ सितम्बर और १ अक्टूबर १९०८ के 'आर्य-मित्र' में क्रमशः एक लेख छपा था । उस लेख का शीर्षक था, 'सरस्वती में आर्य' । उसके लेखक थे कोई मथुरा-निवासी बी० एन्० शर्मा । वह लेख व्यक्तिगत आक्षेपों से भरा हुआ था । उसी पर द्विवेदी जी ने बीस हजार का मानहानि का दावा करने का नोटिस दिया था । वह नोटिस २४ अक्टूबर १९०८ के 'आर्य-मित्र' में संपादकीय संतव्य के साथ छपा था । हिंदी के यशस्वी कवि और कानपुर के प्रतिष्ठित वकील राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने द्विवेदी जी की ओर से नोटिस दिया था । फलस्वरूप उक्त बी० एन्० शर्मा ने २४ सितम्बर १९०८ के 'आर्य-मित्र' में अपना क्षमापत्र प्रकाशित किया । उस क्षमाप्रार्थना के नीचे 'आर्य-मित्र' के प्रिंटर (बाबूराम शर्मा, भूतपूर्व सम्पादक) और पब्लिशर (कपूरचंद) का दुःख प्रकाश बड़े-बड़े अक्षरों में छपा था । इस क्षमाप्रार्थना के संबंध में २७ फरवरी १९१० के

gentleman and I must warn you against your having recourse to such language in future; should you have occasion to write to me again."

इसी प्रकार एक दूसरे महाशय के लेख को अपमान-सूचक समझकर उन्होंने मानहानि का दावा दायर करने का नोटिस दिया था। इसकी कथा इस प्रकार है—

सितंबर सन् १९०८ की 'सरस्वती' के पृष्ठ ४१५ पर 'आर्य' शब्द की व्युत्पत्ति-शीर्षक एक लेख छपा था। वह बँगला 'प्रवासी' में प्रकाशित श्री महेशचन्द्र घोष के एक लेख के आधार पर लिखा गया था। उसी लेख के संबंध में १६ नवम्बर, १९०८ के 'आर्य-मित्र' में पण्डित नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ ने एक आलोचनात्मक लेख लिखा था; किंतु इसके पहले ही २४ सितम्बर और १ अक्टूबर १९०८ के 'आर्य-मित्र' में क्रमशः एक लेख छपा था। उस लेख का शीर्षक था, 'सरस्वती में आर्य'। उसके लेखक थे कोई मथुरा-निवासी वी० एन्० शर्मा। वह लेख व्यक्तिगत आक्षेपों से भरा हुआ था। उसी पर द्विवेदी जी ने बीस हजार का मानहानि का दावा करने का नोटिस दिया था। वह नोटिस २४ अक्टूबर १९०८ के 'आर्य-मित्र' में संपादकीय मंतव्य के साथ छपा था। हिंदी के यशस्वी कवि और कानपुर के प्रतिष्ठित वकील राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने द्विवेदी जी की ओर से नोटिस दिया था। फलस्वरूप उक्त वी० एन्० शर्मा ने २४ सितम्बर १९०८ के 'आर्य-मित्र' में अपना क्षमापत्र प्रकाशित किया। उस क्षमाप्रार्थना के नीचे 'आर्य-मित्र' के प्रिंटर (बाबूराम शर्मा, भूतपूर्व सम्पादक) और पब्लिशर (कपूरचंद) का दुःख प्रकाश बड़े-बड़े अक्षरों में छपा था। इस क्षमाप्रार्थना के संबंध में २७ फरवरी १९१० के

रही और उसी ने हिंदी-साहित्य-संसार में उनका एकच्छत्र राज्य स्थापित कर दिया। सत्य, स्पष्टता और निर्भीकता का निरंतर अनुसरण करने के कारण ही आज हिंदी-साहित्य-क्षेत्र में उनका यशःसौरभ फैल रहा है। वास्तव में जीवन की सचाई ही सदैव उनका ध्येय रही है और सांसारिक शिष्टाचार तथा कृत्रिमता से दूर रहने की वे सदा चेष्टा करते रहे हैं। किसी से दबकर वे कभी बात ही नहीं करते थे। कारण, स्वार्थवश होकर या अन्य किसी लाभ की आशा से वे कभी कोई ऐसा काम ही नहीं करते थे कि उन्हें दूसरों से दबना पड़े। यों वे वाद-विवाद से भी दूर ही रहना पसन्द करते रहे, परन्तु जब-जब वे विवश किये गये—वाद-विवाद में पड़ने के लिए ललकारे गये, तब उन्होंने पैर पीछे नहीं रक्खा। उनकी इस निर्भीकता तथा स्वाभिमान का पता हमें बाबू बालमुकुन्द गुप्त, बाबू श्यामसुन्दरदास, मिश्रवन्धु, ला० भगवानदीन आदि सं होनेवाले साहित्यिक वाद-विवादों से लगता है। अपने मित्रों के प्रति भी उनका व्यवहार निष्कपट रहा है। मन में जो रहता था, वही वे मुख से भी कहते थे। कृत्रिमता से उन्हें घृणा थी। इससे लोग प्रायः असंतुष्ट हो जाते थे, उनको घमंडी कहा करते थे। द्विवेदी जी ने ऐसे व्यक्तियों की कभी परवा ही नहीं की। जिस बात को वे जैसा समझते थे, कौरन कह डालते थे। मई १९०४ की 'सरस्वती' में उन्होंने राजा रामपालसिंह का जीवनचरित्र प्रकाशित किया था। उसमें उन्होंने धनी-मानी पुरुषों पर आक्षेप करते हुए अपनी स्पष्टवादिता का परिचय दिया था। उसमें द्विवेदी जी ने लिखा था—

“हम देखते हैं कि हिंदी-भाषा-भाषी अनेक बड़े-बड़े राजा और धनी लोग इस देश में हैं, परंतु देशहित और स्वभावोत्कर्ष के निमित्त

रही और उसी ने हिंदी-साहित्य-संसार में उनका एकच्छत्र राज्य स्थापित कर दिया। सत्य, स्पष्टता और निर्भीकता का निरंतर अनुसरण करने के कारण ही आज हिंदी-साहित्य-क्षेत्र में उनका यशःसौरभ फैल रहा है। वास्तव में जीवन की सचाई ही सदैव उनका ध्येय रही है और सांसारिक शिष्टाचार तथा कृत्रिमता से दूर रहने की वे सदा चेष्टा करते रहे हैं। किसी से दबकर वे कभी बात ही नहीं करते थे। कारण, स्वार्थवश होकर या अन्य किसी लाभ की आशा से वे कभी कोई ऐसा काम ही नहीं करते थे कि उन्हें दूसरों से दबना पड़े। यों वे वाद-विवाद से भी दूर ही रहना पसन्द करते रहे, परन्तु जब-जब वे विवश किये गये—वाद-विवाद में पड़ने के लिए लल-कारे गये, तब उन्होंने पैर पीछे नहीं रक्खा। उनकी इस निर्भीकता तथा स्वाभिमान का पता हमें बाबू बालमुकुन्द गुप्त, बाबू श्यामसुन्दरदास, मिश्रबन्धु, ला० भगवानदीन आदि से होनेवाले साहित्यिक वाद-विवादों से लगता है। अपने मित्रों के प्रति भी उनका व्यवहार निष्कपट रहा है। मन में जो रहता था, वही वे मुख से भी कहते थे। कृत्रिमता से उन्हें घृणा थी। इससे लोग प्रायः असंतुष्ट हो जाते थे, उनको घमंडी कहा करते थे। द्विवेदी जी ने ऐसे व्यक्तियों की कभी परवा ही नहीं की। जिस बात को वे जैसा समझते थे, फौरन कह डालते थे। मई १९०४ की 'सरस्वती' में उन्होंने राजा रामपालसिंह का जीवनचरित प्रकाशित किया था। उसमें उन्होंने धनी-मानी पुरुषों पर आक्षेप करते हुए अपनी स्पष्टवादिता का परिचय दिया था। उसमें द्विवेदी जी ने लिखा था—

“हम देखते हैं कि हिंदी-भाषा-भाषी अनेक बड़े-बड़े राजा और धनी लोग इस देश में हैं, परन्तु देशहित और स्वभावोत्कर्ष के निमित्त

समुचित प्रकाश पड़ता है। द्विवेदी जी ने इस नोट का शीर्षक दिया था—‘आर्यसमाज का कोप।’ इसे उन्होंने यों शुरू किया था—

“आर्य-ग्रन्थकारों से सविनय निवेदन है कि वे अपनी लिखी पुस्तकों को ‘सरस्वती’-संपादक पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी के पास समालोचनार्थ कदापि न भेजा करें। पक्षपात के बिना न्यायपूर्वक पुस्तक के गुण-दोष-वर्णन करना प्रत्येक समालोचक का प्रधान कर्तव्य होना चाहिए। परंतु खेद है कि द्विवेदी जी इस बात को कभी-कभी बिलकुल भूल जाते हैं। आर्यसमाज के ऊपर तो उनके क्रोध की मात्रा दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती है। अभी हाल में आपने एक पुस्तक की समालोचना करते हुए श्रीस्वामी दयानंद सरस्वती के गुरु महर्षि विरजानंद जी प्रज्ञाचक्षु के ऊपर गंदे शब्दों की बौछार करके अपनी महावीरता का प्रचंड परिचय दे डाला है। ऐसी दशा में हमारी सम्मति है कि कोई आर्य-ग्रन्थकार अपनी पुस्तकों को वहाँ न भेजें।”

आर्य-प्रतिनिधि-सभा, }
संयुक्तप्रांत, बुलंदशहर }
ता० ६—१०—१४ }

—बिनीत

मदनमोहन सेठ, एम० ए०,
एल-एल० बी०, मंत्री सभा

इस विज्ञप्ति को प्रकाशित करके उन्होंने दो नोट दिये। वे इस प्रकार हैं—

(१) मंत्री महाशय ने सरस्वती पर यह अपराध लगाया है कि उसमें पुस्तकों की समालोचना पक्षपात-रहित नहीं होती। मंत्री जी हमें क्षमा करें, उनका यह आरोप सर्वथा निर्मूल अतएव मिथ्या है।

(२) जो बात आज तक किसी को न सूझी थी, वह आर्य-प्रतिनिधि-सभा के मंत्री को सूझी है। हिंदू-धर्म पर आघात पर

समुचित प्रकाश पड़ता है। द्विवेदी जी ने इस नोट का शीर्षक दिया था—‘आर्यसमाज का कोप।’ इसे उन्होंने यों शुरू किया था—

“आर्य-ग्रन्थकारों से सविनय निवेदन है कि वे अपनी लिखी पुस्तकों को ‘सरस्वती’-संपादक पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी के पास समालोचनार्थ कदापि न भेजा करें। पक्षपात के बिना न्यायपूर्वक पुस्तक के गुण-दोष-वर्णन करना प्रत्येक समालोचक का प्रधान कर्तव्य होना चाहिए। परंतु खेद है कि द्विवेदी जी इस बात को कभी-कभी बिलकुल भूल जाते हैं। आर्यसमाज के ऊपर तो उनके क्रोध की मात्रा दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती है। अभी हाल में आपने एक पुस्तक की समालोचना करते हुए श्रीस्वामी दयानंद सरस्वती के गुरु महर्षि विरजानंद जी प्रज्ञाचक्षु के ऊपर गंदे शब्दों की बौछार करके अपनी महावीरता का प्रचंड परिचय दे डाला है। ऐसी दशा में हमारी सम्मति है कि कोई आर्य-ग्रन्थकार अपनी पुस्तकों को वहाँ न भेजे।”

आर्य-प्रतिनिधि-सभा. }	—विनीत
संयुक्तप्रांत, बुलंदशहर }	मदनमोहन सेठ, एम० ए०,
ता० ६—१०—१४ }	एल०-एल० बी०, मंत्री सभा

इस विज्ञप्ति को प्रकाशित करके उन्होंने दो नोट दिये। वे इस प्रकार हैं—

(१) मंत्री महाशय ने सरस्वती पर यह अपराध लगाया है कि उसमें पुस्तकों की समालोचना पक्षपात-रहित नहीं होती। मंत्री जी हमें क्षमा करें, उनका यह आरोप सर्वथा निर्मूल अतएव मिथ्या है।

(२) जो बात आज तक किसी को न सूझी थी, वह आर्य-प्रतिनिधि-सभा के मंत्री को सूझी है। हिंदू-धर्म पर आघात पर

नाम देकर बी० सिंह नाम के एक महाशय ने आगरे से एक पोस्टकार्ड उर्दू में उनके पास भेजा ।-उसमें अनेक दुर्वचनों और अभिशापों के अनन्तर इस बात पर दुःख प्रकट किया गया था कि राज्य अँगरेजी है, अन्यथा तुम्हारा (द्विवेदी जी का) सिर धड़ से अलग कर दिया जाता । एक दूसरे ने उन्हें लिखा कि—
“आपकी सेवा में आर्य-विद्यार्थी-सभा, अजमेर, के निम्नलिखित प्रस्ताव की प्रतिलिपि सूचनार्थ भेजी जाती है--

प्रस्ताव

यह सभा एक स्वर से (Unanimously) महावीरप्रसाद जी द्विवेदी पर निंदा का प्रस्ताव करती है, क्योंकि उन्होंने ‘सरस्वती’ में महर्षि विरजानन्द जी के लिए अपमानसूचक शब्दों का प्रयोग किया है, और संपादक जी को यह नेक सलाह देती है कि वे शीघ्र ही ‘सरस्वती’ के आगामी अंक में अपने किये पर पश्चात्ताप प्रकट करें ।

भवदीय

—चाँदकरण शारदा बी० ए०, एल्-एल् बी०
प्रधान आर्य-विद्यार्थी सभा, अजमेर ’

द्विवेदी जी ने बी० सिंह महाशय के लिए लिखा—

“भाई सिंह दुःख मत करो । आर्यसमाज की धर्मोन्नति होती हो तो—

“कर कुठार आगे यह शीशा”

जिन लोगों का यह हाल है उनके विषय में परमेश्वर से हमारी प्रार्थना है—

येषां चेतसि मोह-मत्सर-मद-आन्तिः समुज्जृम्भते
तेऽप्येते दयया दयाधन विभो संतारणीयास्त्वया ॥

नाम देकर वी० सिंह नाम के एक महाशय ने आगरे से एक पोस्टकार्ड उर्दू में उनके पास भेजा । उसमें अनेक दुर्वचनों और अभिशापों के अनन्तर इस बात पर दुःख प्रकट किया गया था कि राज्य अँगरेजी है, अन्यथा तुम्हारा (द्विवेदी जी का) सिर धड़ से अलग कर दिया जाता । एक दूसरे ने उन्हें लिखा कि—
“आपकी सेवा में आर्य-विद्यार्थी-सभा, अजमेर, के निम्नलिखित प्रस्ताव की प्रतिलिपि सूचनार्थ भेजी जाती है—

प्रस्ताव

यह सभा एक स्वर से (Unanimously) महावीरप्रसाद जी द्विवेदी पर निंदा का प्रस्ताव करती है, क्योंकि उन्होंने ‘सरस्वती’ में महर्षि विरजानंद जी के लिए अपमानसूचक शब्दों का प्रयोग किया है, और संपादक जी को यह नेक सलाह देती है कि वे शीघ्र ही ‘सरस्वती’ के आगामी अंक में अपने किये पर पश्चात्ताप प्रकट करें ।

भवदीय

—चाँदकरण शारदा वी० ए०, एल्-एल् वी०
प्रधान आर्य-विद्यार्थी सभा, अजमेर ’

द्विवेदी जी ने वी० सिंह महाशय के लिए लिखा—

“भाई सिंह दुःख मत करो । आर्यसमाज की धर्मोन्नति होती हो तो—

“कर कुठार आगे यह शीशा”

जिन लोगों का यह हाल है उनके विषय में परमेश्वर से हमारी प्रार्थना है—

येषां चेतसि मोह-मत्सर-मद-भ्रान्तिः समुज्जृम्भते
तेऽप्येते दयया दयाधन विभो संतारणीयास्त्वया ॥

आचार्य द्विवेदी जी का स्वभाव इतना सरल और सरस था कि उनके लिए यह कहा जा सकता है कि वे करुणा के साक्षात् अवतार थे—करुणा के परमाणुओं से बने थे। उनके सामने—

“मो सम कौन कुटिल खल कामी ?”

पढ़ने पर उनकी आँखों से टपाटप आँसुओं की झड़ी लग जाती थी। यदि आपने कहीं ऐसे दो-एक पद पढ़ दिये, तो वस वे मूर्च्छित होकर गिर जाते थे। यह स्वभाव उनका बुढ़ापे के कारण नहीं, भरी जवानी में भी उनकी यही दशा थी। चरखारी के राजा जुम्हारसिंह जी द्विवेदी जी के बड़े भक्त थे और शायद संगीत-प्रेमी भी। एक बार राजा साहब के यहाँ संगीत-मंडली थी। द्विवेदी जी उसमें नहीं पधारे; क्योंकि वहाँ पर सदासुहागिन भी विराजमान थी। आग्रह करने पर गये तब “मो सम कौन कुटिल खल कामी” गवाया। सुनकर स्वयं मूर्च्छित होकर गिर पड़े। ‘विछुड़ गई जोड़ी, जोड़ी मोरे रामा’ जैसे स्त्रियों के गीत सुनकर भी द्विवेदी जी को मूर्च्छा आ जाती थी। तुलसी और अन्य कवियों के करुण-रस के पदों को पढ़ते ही द्विवेदी जी को रोमांच हो जाता था और आँखों से जलधारा बहने लगती थी। शायद भावावेश में गलकर उनका हृदय आँसुओं के रूप में निकल सकता था ॥ निम्नलिखित पंक्तियाँ उन्हें बहुत प्रिय थीं। प्रायः वे इन्हें गाय़ा करते थे—

भागीरथी हम दोष भरे को

भरोस यही कि परोस तिहारे ।

द्विवेदी जी के चित्र को देखिए। उसमें आपका ध्यान उनके उन्नत ललाट और घनी भौंहों की ओर विशेष रूप से जायगा।

आचार्य द्विवेदी जी का स्वभाव इतना सरल और सरस था कि उनके लिए यह कहा जा सकता है कि वे करुणा के साक्षात् अवतार थे—करुणा के परमाणुओं से बने थे। उनके सामने—

“मो सम कौन कुटिल खल कामी ?”

पढ़ने पर उनकी आँखों से टपाटप आँसुओं की झड़ी लग जाती थी। यदि आपने कहीं ऐसे दो-एक पद पढ़ दिये, तो बस वे मूर्च्छित होकर गिर जाते थे। यह स्वभाव उनका बुढ़ापे के कारण नहीं, भरी जवानी में भी उनकी यही दशा थी। चरखारी के राजा जुभारसिंह जी द्विवेदी जी के बड़े भक्त थे और शायद संगीत-प्रेमी भी। एक बार राजा साहब के यहाँ संगीत-मंडली थी। द्विवेदी जी उसमें नहीं पधारें; क्योंकि वहाँ पर सदासुहागिन भी विराजमान थी। आग्रह करने पर गये तब “मो सम कौन कुटिल खल कामी” गवाया। सुनकर स्वयं मूर्च्छित होकर गिर पड़े। ‘बिछुड़ गई जोड़ी, जोड़ी मोरे रामा’ जैसे स्त्रियों के गीत सुनकर भी द्विवेदी जी को मूर्च्छा आ जाती थी। तुलसी और अन्य कवियों के करुण-रस के पदों को पढ़ते ही द्विवेदी जी को रोमांच हो जाता था और आँखों से जलधारा बहने लगती थी। शायद भावावेश में गलकर उनका हृदय आँसुओं के रूप में निकल सकता था ॥ निम्नलिखित पंक्तियाँ उन्हें बहुत प्रिय थीं। प्रायः वे इन्हें गाया करते थे—

भागीरथी हम दोष भरे को

भरोस यही कि परोस तिहारे।

द्विवेदी जी के चित्र को देखिए। उसमें आपका ध्यान उनके उन्नत ललाट और घनी भौंहों की ओर विशेष रूप से जायगा।

चेहरे और लम्बे डील-डौल के अंदर एक सहानुभूति-पूर्ण, करुणाद्रि और कोमल हृदय छिपा हुआ है। वास्तव में वे सब प्रेम और भाव के भूखे थे। उनके समान पर-दुःख-कातर बहुत कम होते हैं। किसी भी व्यक्ति को कष्ट में देखकर उनका हृदय पिघलने लगता और वे उसके दुःख को दूर करके ही चैन लेते थे; किसी के चोट लग गई है, बिच्छू ने काट खाया है, तो द्विवेदी जी उधर ही दौड़ जाते थे और अपने हाथ से दवा लगाते। ब्राह्मण होकर भी वे यह नहीं देखते कि रोगी या आहत व्यक्ति पासी, कोरी अथवा चमार है। विपत्ति-पीड़ित ब्राह्मण और पासी, में उनकी दृष्टि में कोई भेद नहीं था। एक बार एक अहीर किसान बैल-गाड़ी में किसी दूसरे गाँव को जा रहा था। उसकी तबीअत खराब थी। द्विवेदी जी ने उससे कहा—चाखौ, उहाँ कुछ अंट-संट न खाय लीन्हयों, नाहीं तौ बहुत दिक् होइ जइहौ। इस तरह उसे बड़ी देर तक समझाते रहे। हमारे यहाँ के पढ़े-लिखे कह उठते—मरने दो सालों को। इन लोगों से सिर मारने को हमारे पास समय कहाँ!

द्विवेदी जी अपने आश्रित जनों के साथ भी बड़े प्रेम का वर्ताव करते थे। नौकरों का वे आदर करते थे, उनकी दुःख-वार्ता से कोर। समवेदना प्रकट करके ही नहीं रह जाते, वरन उनकी सहायता और रक्षा भी वे करते थे। उन्हें वे प्रायः मासिक वेतन देते थे। कभी-कभी प्रसन्न होकर इनाम भी देते थे। एक बार एक नौकर को चाँदी के कड़े बनवा दिये थे। दूसरों को आश्रित व्यक्तियों और नौकरों के साथ कठोरता का व्यवहार करते देखकर उन्हें बड़ा दुःख होता। वे स्वयं अपने नौकरों से कभी कठोर वचन नहीं कहते थे। उनके घर की दास-दासियों की वेश-भूषा देखकर बाहर के आदमियों को यह जानना कठिन

चेहरे और लम्बे डील-डौल के अंदर एक सहानुभूति-पूर्ण, करुणार्द्र और कोमल हृदय छिपा हुआ है। वास्तव में वे सच्चे प्रेम और भाव के भूखे थे। उनके समान पर-दुःख-कातर बहुत कम होते हैं। किसी भी व्यक्ति को कष्ट में देखकर उनका हृदय पिघलने लगता और वे उसके दुःख को दूर करके ही चैन लेते थे; किसी के चोट लग गई है, बिच्छू ने काट खाया है, तो द्विवेदी जी उधर ही दौड़ जाते थे और अपने हाथ से दवा लगाते। ब्राह्मण होकर भी वे यह नहीं देखते कि रोगी या आहत व्यक्ति पासी, कोरी अथवा चमार है। विपत्ति-पीड़ित ब्राह्मण और पासी, में उनकी दृष्टि में कोई भेद नहीं था। एक बार एक अहीर किसान बैलगाड़ी में किसी दूसरे गाँव को जा रहा था। उसकी तबीअत खराब थी। द्विवेदी जी ने उससे कहा—‘‘छाखौ, उहाँ कुछ अंट-संट न खाय लीन्हयों, नाहीं तौ बहुत दिक्क होइ जइहौ। इस तरह उसे बड़ी देर तक समझाते रहे। हमारे यहाँ के पढ़े-लिखे कह उठते—मरने दो साले को। इन लोगों से सिर मारने को हमारे पास समय कहाँ !

द्विवेदी जी अपने आश्रित जनों के साथ भी बड़े प्रेम का वर्ताव करते थे। नौकरों का वे आदर करते थे, उनकी दुःख-वार्ता से कोरा समवेदना प्रकट करके ही नहीं रह जाते, वरन उनकी सहायता और रक्षा भी वे करते थे। उन्हें वे प्रायः मासिक वेतन देते थे। कभी-कभी प्रसन्न होकर इनाम भी देते थे। एक बार एक नौकर को चाँदी के कड़े बनवा दिये थे। दूसरों को आश्रित व्यक्तियों और नौकरों के साथ कठोरता का व्यवहार करते देखकर उन्हें बड़ा दुःख होता। वे स्वयं अपने नौकरों से कभी कठोर वचन नहीं कहते थे। उनके घर की दास-दासियों की वेश-भूषा देखकर बाहर के आदमियों को यह जानना कठिन

“दौलतपुर की ही बात है। एक बार मैंने चूल्हा जलाकर दाल के लिए अदहन रखा था कि पंडित जी ने आवाज लगाई। उन दिनों वे ‘किरातार्जुनाय’ का हिदीरूपान्तर मुझे लिखाते थे। मैंने उसी क्षण बटुआ चूल्हे से उतारकर चूल्हा बुझा दिया और लिखने आ बैठा। दो घंटे तक लिखते रहे। बाद को मैं रसोई बनाने बैठा। जब उन्हें मालूम हुआ कि मैं चूल्हा बुझाकर आया था तब उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उसके बाद आवाज देने से पहले वे ‘पूछ लिया करते थे कि ‘क्या कर रहे हो’ ?”

अध्ययन

द्विवेदी जी का ज्ञान बहुत विस्तृत और अध्ययन बहुत अधिक था। उनमें आरम्भ से ही जिज्ञासावृत्ति प्रधान रही और नये-नये विषयों का उन्होंने काफ़ी पठन-पाठन किया। यही कारण था कि ‘सरस्वती’ के प्रत्येक अङ्क में वे १०-१२ विषयों पर संपादकीय नोट लिख डालते थे। विभिन्न विषयों पर उन्होंने विस्तृत लेख भी लिखे, जिनको पढ़कर आश्चर्य होता है कि संपादकीय कार्य करते हुए भी उन्हें इन सबका अध्ययन करके लेख लिखने का समय ही कैसे मिल जाता था। यहाँ तक कि ‘सरस्वती’ (भाग ४ सं० ११) में उन्होंने “रजोदर्शन”-शीर्षक लेख कामिनीकौतूहल के अन्तर्गत लिखा है। इसके बहुत पहले सन् १८६८ में काला-काँकर के किन्हीं रमेशसिंह नाम के व्यक्ति ने उनसे अलंकार के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ के विषय में पूछा था और यह भी लिखा था कि यदि मैं अलंकार और उसके अन्यान्य अंगों पर लिखा हुआ अपना निबन्ध भेजूँ तो क्या आप उस पर अपनी सम्मति देने की कृपा करेंगे।

बात यह है कि नई-नई बातों को जानने की इच्छा साधारण
फा० १७

“दौलतपुर की ही बात है। एक बार मैंने चूल्हा जलाकर दाब के लिए श्रद्धा रखी थी कि पंडित जी ने आवाज लगाई। उन दिनों वे ‘किरातार्जुनाय’ का हिंदीरूपान्तर मुझे लिखाते थे। मैंने उसी क्षण बटुआ चूल्हे से उतारकर चूल्हा बुझा दिया और लिखने आ बैठा। दो घंटे तक लिखते रहे। बाद को मैं रसोई बनाने बैठा। जब उन्हें मालूम हुआ कि मैं चूल्हा बुझाकर आया था तब उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उसके बाद आवाज देने से पहले वे ‘पूछ लिया करते थे कि ‘क्या कर रहे हो’ ?’

अध्ययन

द्विवेदी जी का ज्ञान बहुत विस्तृत और अध्ययन बहुत अधिक था। उनमें आरम्भ से ही जिज्ञासावृत्ति प्रधान रही और नये-नये विषयों का उन्होंने काफी पठन-पाठन किया। यही कारण था कि ‘सरस्वती’ के प्रत्येक अंक में वे १०-१२ विषयों पर संपादकीय नोट लिख डालते थे। विभिन्न विषयों पर उन्होंने विस्तृत लेख भी लिखे, जिनको पढ़कर आश्चर्य होता है कि संपादकीय कार्य करते हुए भी उन्हें इन सबका अध्ययन करके लेख लिखने का समय ही कैसे मिल जाता था। यहाँ तक कि ‘सरस्वती’ (भाग ४ सं० ११) में उन्होंने “रजोदर्शन”-शीर्षक लेख कामिनीकौतूहल के अन्तर्गत लिखा है। इसके बहुत पहले सन् १८६८ में कालाकाँकर के किन्हीं रमेशसिंह नाम के व्यक्ति ने उनसे अलंकार के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ के विषय में पूछा था और यह भी लिखा था कि यदि मैं अलंकार और उसके अन्यान्य अंगों पर लिखा हुआ अपना निबन्ध भेजूँ तो क्या आप उस पर अपनी सम्मति देने की कृपा करेंगे।

बात यह है कि नई-नई बातों को जानने की इच्छा साधारण
फा० १७

हिसाब लिखने और पुड़ियाँ बनाने के काम में भी उन्हें लाते थे। शायद महात्मा गांधी के बाद दूसरा नंबर इस विषय में उन्हीं का था। उनकी सुव्यवस्था-प्रियता का इससे बढ़कर नमूना और क्या हो सकता है कि जब वे 'सरस्वती' के संपादन-कार्य से अलग हुए थे तब उन्होंने पदुमलाल पुत्रालाल वरुणी जी को कई लेख ऐसे भी दिये थे जो लगभग २० वर्ष पहले वावू श्यामसुन्दरदास जी ने चार्ज देते समय उन्हें दिये थे। वर्षों के पुराने कपड़े उनके पास रखे थे और वे प्रायः उन्हें पहनते भी रहे हैं। पैसे-पैसे का हिसाब भी वे रखते रहे हैं। महीने का वजट वे पहले ही बना लेते थे, उनके पास २०-२५ वर्ष पूर्व के भी माहवारी वजट मिल सकते थे।

सफलता का रहस्य

द्विवेदी जी ऐसे देशभक्त या सुधारक नहीं थे, जो केवल सुधार-सुधार चिल्लाया करते हैं। जिस भारतीय सभ्यता, धर्म आदि की वे चकालत करते हैं उसको उन्होंने स्वयं भी अपनाया था। जिस अपनाने की ओर वे संकेत करते हैं उसके कारण भी बताते चलते हैं। कभी कहते हैं—

“कुछ तो कर्मयोग के और कुछ तुम्हारी ही अकर्मण्यता के कारण तुम्हारा वह प्राचीन वैभव इस समय कथावशेष रह गया है। लौकिक ज्ञान और विज्ञान में तुम्हें विदेशी योरप और अमेरिका ने परास्त कर दिया, बल-विक्रम में तुम्हें विदेशी जातियों ने मुँह दिखाने लायक न रक्खा। तुम्हारे हीरो का हास हो गया।”

और कभी सुधारकों और कर्मवीरों को सावधान करते हुए उन्हें कर्तव्य सुभाते हैं—

हिसाब लिखने और पुड़ियाँ बनाने के काम में भी उन्हें लाते थे। शायद महात्मा गांधी के बाद दूसरा नंबर इस विषय में उन्हीं का था। उनकी सुव्यवस्था-प्रियता का इससे बढ़कर नमूना और क्या हो सकता है कि जब वे 'सरस्वती' के संपादन-कार्य से अलग हुए थे तब उन्होंने पदुमलाल पुत्रालाल बखशी जी को कई लेख ऐसे भी दिये थे जो लगभग २० वर्ष पहले बाबू श्यामसुन्दरदास जी ने चार्ज देते समय उन्हें दिये थे। वर्षों के पुराने कपड़े उनके पास रखे थे और वे प्रायः उन्हें पहनते भी रहे हैं। पैसे-पैसे का हिसाब भी वे रखते रहे हैं। सहीने का बजट वे पहले ही बना लेते थे, उनके पास २०-२५ वर्ष पूर्व के भी माहवारी बजट मिल सकते थे।

सफलता का रहस्य

द्विवेदी जी ऐसे देशभक्त या सुधारक नहीं थे, जो केवल सुधार-सुधार चिल्लाया करते हैं। जिस भारतीय सभ्यता, धर्म आदि की वे वकालत करते हैं उसको उन्होंने स्वयं भी अपनाया था। जिस अपनाने की ओर वे संकेत करते हैं उसके कारण भी बताते चलते हैं। कभी कहते हैं—

“कुछ तो कर्मयोग के और कुछ तुम्हारी ही अकर्मण्यता के कारण तुम्हारा वह प्राचीन वैभव इस समय कथावशेष रह गया है। लौकिक ज्ञान और विज्ञान में तुम्हें विदेशी योरोप और अमेरिका ने परास्त कर दिया, बल-विक्रम में तुम्हें विदेशी जातियों ने मुँह दिखाने लायक न रक्खा। तुम्हारे हीरों का हास हो गया।”

और कभी सुधारकों और कर्मवीरों को सावधान करते हुए उन्हें कर्तव्य सुभाते हैं—

विरोधों का सामना करना पड़ा; पर उन्होंने वीरता के साथ अपने प्रतिद्वंद्वियों का सामना किया और असीम योग्यता, अटूट धैर्य, अप्रतिम दक्षता दिखाई। कालांतर में लोगों ने उन्हें सभक्ता और उनकी महत्ता को स्वीकार किया। इस विजय का श्रेय उनकी निर्भीक सत्य-प्रीति, तेजस्विता, बहुदर्शिता और मर्म-ज्ञता, नियम-निष्ठा, श्रमशीलता, साधन-बहुलता और कार्य-दक्षता को ही दिया जा सकता है। उनका जीवन साहित्य-सेवियों की कृत-कृत्यता का एक महान् उज्ज्वल दृष्टांत है। यह नितांत सत्य है कि कोई भी व्यक्ति उनकी विशेषताओं को अंगीकृत करके गौरवशाली हो सकता है। संक्षेप में द्विवेदीजी को बालोचित विनम्रता, उनकी सादगी, उनका समय का सदुप-योग, उनकी शिष्टता और सज्जनता आदि गुणों ने हिंदी-भाषा का इतिहास जाननेवाले लोगों के वीरोपासक हृदयों में उनके प्रति वह भाव पैदा कर दिया है, जो अमिट है।

विरोधों का सामना करना पड़ा; पर उन्होंने वीरता के साथ अपने प्रतिद्वंद्वियों का सामना किया और असीम योग्यता, अटूट धैर्य, अप्रतिम दक्षता दिखाई। कालांतर में लोगों ने उन्हें सभम्मा और उनकी महत्ता को स्वीकार किया। इस विजय का श्रेय उनकी निर्भीक सत्य-प्रीति, तेजस्विता, बहुदर्शिता और मर्म-ज्ञता, नियम-निष्ठा, श्रमशीलता, साधन-बहुलता और कार्य-दक्षता को ही दिया जा सकता है। उनका जीवन साहित्य-सेवियों की कृत-कृत्यता का एक महान् उज्ज्वल दृष्टांत है। यह नितांत सत्य है कि कोई भी व्यक्ति उनकी विशेषताओं को अंगीकृत करके गौरवशाली हो सकता है। संक्षेप में द्विवेदीजी को बालोचित विनम्रता, उनकी सादगी, उनका समय का सदुप-योग, उनकी शिष्टता और सज्जनता आदि गुणों ने हिंदी-भाषा का इतिहास जाननेवाले लोगों के वीरोपासक हृदयों में उनके प्रति वह भाव पैदा कर दिया है, जो अमिट है।

मूँदे रहते हैं। शेक्सपियर की बात को तो जाने दीजिए, पर हिंदी के कवि अपने रंग में मस्त रहकर ही यदि भारतीयता की भावनाओं से शून्य रहें या भारतीय परिस्थिति और भारतीय समस्याओं की ओर से, किसी कारण से भी, उदासीन रहें तो सचमुच बड़े आश्चर्य की बात होगी। कारण, पिछले लगभग ५० वर्ष से देश में ऐसी-ऐसी समस्याओं का जन्म हो रहा है जिनका संबंध भारत की सभी श्रेणियों और वर्गों से है। सामाजिक प्राणी—स्वांतःसुखाय कविता करनेवाले कल्पना-प्रधान अथवा भाव-प्रधान कवियों को भी मैं यही समझता हूँ—साधारणतः इनकी ओर उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख सकता और न ऐसा करना उचित ही है। ऐसे कवियों की भावना, सहृदयता और सहानुभूति की जननी बनकर, मनुष्यमात्र का हृदय जाति-प्रेम और देश-प्रेम से परिपूर्ण कर देती है। कृतज्ञता और समवेदना का भाव भी इस कार्य में सहायक होता है। फलतः कवि-हृदय की भावुक सहृदयता इससे प्रभावित होकर शब्दों के रूप में प्रकट होती है।

ऐसा ही भावुक कवि-हृदय द्विवेदी जी का था। देश-प्रेम से वह सदैव ही परिपूर्ण रहा। यद्यपि उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक मामलों में शायद कभी भाग नहीं लिया, तथापि स्वतंत्रता के लिए होनेवाले आंदोलन से उनकी पूर्ण सहानुभूति रही। स्वदेशी वस्त्रों का प्रयोग स्वदेशी-आंदोलन से भी पहले से वे करते आये थे। गांधी जी के प्रति उनकी श्रद्धा और भक्ति भी आज से लगभग २७ वर्ष पहले से थी। जिन दिनों महात्मा जी दिल्ली में उपवास कर रहे थे और समाचार-पत्रों में उनकी हालत के वृत्तांत छपते थे, द्विवेदी जी उन समाचारों को बड़ी चिंता के साथ पढ़ते थे। एक दिन पढ़ा कि उनकी

मूँदे रहते हैं। शेक्सपियर की वात को तो जाने दीजिए, पर हिंदी के कवि अपने रंग में मस्त रहकर ही यदि भारतीयता की भावनाओं से शून्य रहें या भारतीय परिस्थिति और भारतीय समस्याओं की ओर से, किसी कारण से भी, उदासीन रहें तो सचमुच बड़े आश्चर्य की बात होगी। कारण, पिछले लगभग ५० वर्ष से देश में ऐसी-ऐसी समस्याओं का जन्म हो रहा है जिनका संबंध भारत की सभी श्रेणियों और वर्गों से है। सामाजिक प्राणी—स्वांतःसुखाय कविता करनेवाले कल्पना-प्रधान अथवा भाव-प्रधान कवियों को भी मैं यही समझता हूँ—साधारणतः इनकी ओर उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख सकता और न ऐसा करना उचित ही है। ऐसे कवियों की भावना, सहृदयता और सहानुभूति की जननी बनकर, मनुष्यमात्र का हृदय जाति-प्रेम और देश-प्रेम से परिपूर्ण कर देती है। कृतज्ञता और समवेदना का भाव भी इस कार्य में सहायक होता है। फलतः कवि-हृदय की भावुक सहृदयता इससे प्रभावित होकर शब्दों के रूप में प्रकट होती है।

ऐसा ही भावुक कवि-हृदय द्विवेदी जी का था। देश-प्रेम से वह सदैव ही परिपूर्ण रहा। यद्यपि उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक मामलों में शायद कभी भाग नहीं लिया, तथापि स्वतंत्रता के लिए होनेवाले आंदोलन से उनकी पूर्ण सहानुभूति रही। स्वदेशी वस्त्रों का प्रयोग स्वदेशी-आंदोलन से भी पहले से वे करते आये थे। गांधी जी के प्रति उनकी श्रद्धा और भक्ति भी आज से लगभग २७ वर्ष पहले से थी। जिन दिनों महात्मा जी दिल्ली में उपवास कर रहे थे और समाचार-पत्रों में उनकी हालत के वृत्तांत छपते थे, द्विवेदी जी उन समाचारों को बड़ी चिंता के साथ पढ़ते थे। एक दिन पढ़ा कि उनकी

“हाय, जिस भारत ने अपने धर्म, अपने कला-कौशल और अपनी सभ्यता का पाठ दूसरे-दूसरे देशों और दूसरी-दूसरी विलायतों को पढ़ाया, वही आज असभ्यों में नहीं तो अर्द्ध-सभ्यों में गिना जा रहा है। महाकवि ने ठीक ही कहा है—

द्विचिन्तितसितां ही विचित्रो विपाकः ।”

—सरस्वती (दिसंबर १९२७)

भारतीयता का यह पक्षपात द्विवेदी जी की अधिकांश रचनाओं—विशेषकर पुरातत्त्व विषय पर लिखे हुए लेखों—में प्रधान है। उनका विचार जो उनके लेखों से स्पष्ट होता है, वह यह है कि एकता और जातीयता के भाव भारतवासियों में तभी पैदा हो सकते हैं जब हम अपने पूर्व-पुरुषों के बताये हुए मार्ग पर चलें। ‘व्रत-कथायें’-शीर्षक निबंध में, जो श्रीशारदा (दिसंबर सन् १९२१ पृ० ५६५) में प्रकाशित हुआ था, द्विवेदी जी ने इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं। उनके कुछ लेख तो प्राचीन साहित्य के प्रमुख ग्रंथों का परिचयमात्र हैं। इसका कारण भी स्पष्ट है। हमें अपने पूर्वजों की उन्नति, सभ्यता, गौरव आदि का गर्व है। यही गर्व द्विवेदी जी को भी था। पर वे यह नहीं चाहते थे कि भारतवासी सिर्फ घमंड में ही चूर रहें—केवल अपने पूर्वजों का गुणगान करते हुए स्वयं अकर्मण्यता का भटा नमूना बनते रहें। हमारे पूर्वजों ने बहुत-कुछ किया था; परंतु आज हम क्या हैं—द्विवेदी जी अपने पाठकों को यही सुमाना चाहते थे। इसी कारण उन्होंने प्रायः तुलनात्मक लेख लिखे हैं, जो परिचायकमात्र होते हुए भी पाठकों के सामने एक आदर्श उपस्थित करते चलते हैं।

“हाय, जिस भारत ने अपने धर्म, अपने कला-कौशल और अपनी सभ्यता का पाठ दूसरे-दूसरे देशों और दूसरी-दूसरी विलायतों को पढ़ाया, वही आज असभ्यों में नहीं तो अर्द्ध-सभ्यों में गिना जा रहा है। महाकवि ने ठीक ही कहा है —

इतिविधितसितां ही विचित्रो विपाकः ।”

—सरस्वती (दिसंबर १९२७)

भारतीयता का यह पक्षपात द्विवेदी जी की अधिकांश रचनाओं—विशेषकर पुरातत्त्व विषय पर लिखे हुए लेखों—में प्रधान है। उनका विचार जो उनके लेखों से स्पष्ट होता है, वह यह है कि एकता और जातीयता के भाव भारतवासियों में तभी पैदा हो सकते हैं जब हम अपने पूर्व-पुरुषों के बताये हुए मार्ग पर चलें। ‘व्रत-कथायें’-शीर्षक निबंध में, जो श्रीशारदा (दिसंबर सन् १९२१ पृ० ५६५) में प्रकाशित हुआ था, द्विवेदी जी ने इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं। उनके कुछ लेख तो प्राचीन साहित्य के प्रमुख ग्रंथों का परिचयमात्र हैं। इसका कारण भी स्पष्ट है। हमें अपने पूर्वजों की उन्नति, सभ्यता, गौरव आदि का गर्व है। यही गर्व द्विवेदी जी को भी था। पर वे यह नहीं चाहते थे कि भारतवासी सिर्फ घमंड में ही चूर रहें—केवल अपने पूर्वजों का गुणगान करते हुए स्वयं अकर्मण्यता का भड़ा नमूना बनते रहें। हमारे पूर्वजों ने बहुत-कुछ किया था; परंतु आज हम क्या हैं—द्विवेदी जी अपने पाठकों को यही सुझाना चाहते थे। इसी कारण उन्होंने प्रायः तुलनात्मक लेख लिखे हैं, जो परिचायकमात्र होते हुए भी पाठकों के सामने एक आदर्श उपस्थित करते चलते हैं।

रहती है। तब तो यह भी पता जा सकता है कि ज्ञान उपाय के बाहर भी क्या करे जाकर होता पता। परंतु जिन परामर्शियों की भूमिका और प्रेरणाएँ हैं वे ज्ञान के द्वारा हो जाता है उनके तो हृदय सदा आदि। ये जो कुछ दिखाने जायें भी नहीं रह जाते। उनकी दृष्टि देखकर तो मनोना मुँह हो जाता है।

परमेश्वर के जिन पदों का विवेकी जी ने लिखा है वह निम्नलिखित हैं। यह हम अपने जीवन में प्राप्त करने हैं। परंतु हमारे अनिश्चित भावों की अवस्था का जो कारण है कुछ नहीं है वह है हमारी प्रसन्नता। परमेश्वर के जिन पदों का विवेकी जी ने लिखा है वह निम्नलिखित हैं। यह हम अपने जीवन में प्राप्त करने हैं। परंतु हमारे अनिश्चित भावों की अवस्था का जो कारण है कुछ नहीं है वह है हमारी प्रसन्नता। परमेश्वर के जिन पदों का विवेकी जी ने लिखा है वह निम्नलिखित हैं। यह हम अपने जीवन में प्राप्त करने हैं। परंतु हमारे अनिश्चित भावों की अवस्था का जो कारण है कुछ नहीं है वह है हमारी प्रसन्नता।

“हमारी प्रसन्नता ने हमारी जो हानि की है उनकी दृष्टि नहीं। उनके हृदय हम परमात्मा पर भोग रहे हैं। हमने हमें किसी ज्ञान का नहीं रखा। परंतु कुछ हमें फिर भी राखें नहीं होने देना। हमने हमें यहाँ तक प्रभा बना दिया है कि हम अपने पूर्व-पुनर्जन्म के चरित्र और उनके रक्षा भी भूल गये हैं। हमारे जिन धर्मपुत्रीय प्राचीन प्रथियों और सुनियों ने हीपांतरों तक में जाकर जायों के धर्म, ज्ञान और प्रेरणायों की गताका फहराई और बड़े-बड़े उपनिषदों तक की स्थापना कर दी उनकी चरित्रावली आज भी हमें अपनी पुरानी पोथियों में लिखी मिलती है। परंतु उनकी ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता, उनके कार्यों का अनुसरण करना तो दूर भी बात है।”

—सरस्वती (दिसंबर १९२९)

“यद्यपि हमारे देश में अमेरिका के समान दासत्व नहीं है, तथापि, वर्तमान समय में, अस्पृश्य जाति के पाँच करोड़ से अधिक मनुष्य सामाजिक दासत्व का कठिन दुख भोग रहे हैं। क्या हमारे यहाँ वाशिंगटन के समान इन लोगों का उद्धार करने के लिए—सिर्फ शुद्धि के लिए नहीं—कभी कोई महात्मा उत्पन्न होगा? क्या इस देश की शिक्षा-पद्धति में शारीरिक श्रम की ओर ध्यान देकर कभी सुधार किया जायगा? जिन लोगों ने शिक्षा-द्वारा अपने समाज की सेवा करने का निश्चय किया है क्या वे लोग उन तत्वों पर उचित ध्यान देंगे जिनके आधार पर हैस्पटन और टस्केजी की संस्थाएँ काम कर रही हैं?”

इसी प्रकार देश के नवयुवकों के लिए भी उनका संदेश है कि अध्यवसाय से काम लो, अपने पैरों पर खड़े हो और आत्मबल पर विश्वास रखो। स्पेंसर ने अपनी पुस्तक ‘एजुकेशन’ में लिखा है—मनुष्य को प्रत्येक चीज़ परिश्रम करके प्राप्त करनी चाहिए और स्वाभाविक शक्तियों का विकास बिना औरों की मदद के मनुष्यों को यथासंभव खुद ही करना चाहिए। द्विवेदी जी ने स्पेंसर के इन विचारों का समर्थन अपनी अनुवादित पुस्तक ‘शिक्षा’ की भूमिका (पृ० ४) में किया है। इसी प्रकार उन्होंने बाबू कालिदास जी कपूर को एक पत्र में आज से लगभग २० वर्ष पहले लिखा था—

“खूब परिश्रम कीजिए और संयम के हाथ से मत जाने दीजिए।”

यदि गौर करके देखा जाय तो हमें ज्ञात हो जायगा कि द्विवेदी जी की इतनी उन्नति केवल उनके परिश्रम के कारण ही हो सकी है। अस्तु।

इनके अतिरिक्त, एक तीसरे दोष की ओर भी द्विवेदी जी प्रायः संकेत करते रहे हैं। वह है हमारी कृतघ्नता या अगुणा-

“यद्यपि हमारे देश में अमेरिका के समान दासत्व नहीं है, तथापि, वर्तमान समय में, अस्पृश्य जाति के पाँच करोड़ से अधिक मनुष्य सामाजिक दासत्व का कठिन दुख भोग रहे हैं। क्या हमारे यहाँ वाशिंगटन के समान इन लोगों का उद्धार करने के लिए—सिर्फ शुद्धि के लिए नहीं—कभी कोई महात्मा उत्पन्न होगा? क्या इस देश की शिक्षा-पद्धति में शारीरिक श्रम की ओर ध्यान देकर कभी सुधार किया जायगा? जिन लोगों ने शिक्षा-द्वारा अपने समाज की सेवा करने का निश्चय किया है क्या वे लोग उन तत्वों पर उचित ध्यान देंगे जिनके आधार पर हैम्पटन और टस्केजी की संस्थाएँ काम कर रही हैं?”

इसी प्रकार देश के नवयुवकों के लिए भी उनका संदेश है कि अध्यवसाय से काम लो, अपने पैरों पर खड़े हो और आत्मबल पर विश्वास रखो। स्पेंसर ने अपनी पुस्तक ‘एजुकेशन’ में लिखा है—मनुष्य को प्रत्येक चीज़ परिश्रम करके प्राप्त करनी चाहिए और स्वाभाविक शक्तियों का विकास बिना औरों की मदद के मनुष्यों को यथासंभव खुद ही करना चाहिए। द्विवेदी जी ने स्पेंसर के इन विचारों का समर्थन अपनी अनुवादित पुस्तक ‘शिक्षा’ की भूमिका (पृ० ४) में किया है। इसी प्रकार उन्होंने बाबू कालिदास जी कपूर को एक पत्र में आज से लगभग २० वर्ष पहले लिखा था—

“खूब परिश्रम कीजिए और संयम को हाथ से मत जाने दीजिए।”

यदि गौर करके देखा जाय तो हमें ज्ञात हो जायगा कि द्विवेदी जी की इतनी उन्नति केवल उनके परिश्रम के कारण ही हो सकी है। अस्तु।

इनके अतिरिक्त, एक तीसरे दोष की ओर भी द्विवेदी जी प्रायः संकेत करते रहे हैं। वह है हमारी कृतघ्नता या अगुण-

भारतीयता का भाव पैदा हो जाय, यही उनका आदर्श रहा है। एक बार उन्होंने लिखा था—

“इस देश के निवासियों में श्याम जी कृष्ण वर्मा पहले सज्जन हैं जिन्होंने आक्सफोर्ड-विश्वविद्यालय से एम० ए० की पदवी पाई है। स्पेन्सर की शमशान-क्रिया के समय वे वहाँ उपस्थित थे, थोड़ा-सा समयोचित भाषण करने के बाद उन्होंने १५ हजार रुपया इर्च करके स्पेन्सर के नाम से एक छात्रवृत्ति नियत करने का निश्चय किया। इस निश्चय का वे पालन भी कर रहे हैं। इंग्लैंड के ब्रह्मर्षि तुल्य वेदांत-वेत्ता का इस तरह भारतवर्ष के एक विद्वान् द्वारा आदर देना कुछ कौतूहलजनक अवश्य है। सच है, दर्शनशास्त्र की महिमा यह बुढ़ा भारत अब भी खूब जानता है।”

अंतिम वाक्य का व्यंग्य समझने के लिए उसकी तह में पैठना पड़ेगा। द्विवेदी जी के भारतीयता-विषयक भाव इस एक ही वाक्य में निहित समझे जा सकते हैं। पर भारत की आधुनिक परिस्थिति के संबंध में उनके विचार ‘आर्य-भूमि’ शीर्षक कविता में है। भारतभूमि के पूर्व-गौरव, धर्म, साहित्य, वेदांत, विज्ञान आदि की उन्नति की ओर संकेत करने के पश्चात् उन्होंने लिखा—

विचार ऐसे जब चित्त आते,
विपाद पैदा करके सताते।
न क्या कभी देव दया करेंगे,
न क्या हमारे दिन भी फिरेंगे ?

अंतिम पंक्ति की ‘कसक’-भावना ही किसी परतंत्र देश के नवयुवकों और नवयुवतियों के हृदयों में उत्पन्न होकर उस

भारतीयता का भाव पैदा हो जाय, यही उनका आदर्श रहा है। एक बार उन्होंने लिखा था—

“इस देश के निवासियों में श्याम जी कृष्ण वर्मा पहले सज्जन हैं जिन्होंने आक्सफ़ोर्ड-विश्वविद्यालय से एम० ए० की पदवी पाई है। स्पेन्सर की शमशान-क्रिया के समय वे वहाँ उपस्थित थे, थोड़ा-सा समयोचित भाषण करने के बाद उन्होंने १५ हजार रुपया स्वर्च करके स्पेन्सर के नाम से एक छात्रवृत्ति नियत करने का निश्चय किया। इस निश्चय का वे पालन भी कर रहे हैं। इंग्लैंड के ब्रह्मर्षि तुल्य वेदांत-वेत्ता का इस तरह भारतवर्ष के एक विद्वान्-द्वारा आदर देना कुछ कौतूहलजनक अवश्य है। सच है, दर्शनशास्त्र की महिमा यह बुढ़ा भारत अब भी खूब जानता है।”

अंतिम वाक्य का व्यंग्य समझने के लिए उसकी तह में पैठना पड़ेगा। द्विवेदी जी के भारतीयता-विषयक भाव इस एक ही वाक्य में निहित समझे जा सकते हैं। पर भारत की आधुनिक परिस्थिति के संबंध में उनके विचार ‘आर्य-भूमि’ शीर्षक कविता में है। भारतभूमि के पूर्व-गौरव, धर्म, साहित्य, वेदांत, विज्ञान आदि की उन्नति की ओर संकेत करने के पश्चात् उन्होंने लिखा—

विचार ऐसे जब चित्त आते,

विपाद पैदा करके सताते।

न क्या कभी देव दया करेंगे,

न क्या हमारे दिन भी फिरेंगे ?

अंतिम पंक्ति की ‘कसक’-भावना ही किसी परतंत्र देश के नवयुवकों और नवयुवतियों के हृदयों में उत्पन्न होकर उस

सम्मान

“मनुष्य के गुणों का विकाश प्रायः उसके मरने के अनन्तर होता है। जीवित दशा में ईर्ष्या-द्वेष और मत्सर आदि के कारण मनुष्य औरों के गुण बहुधा नहीं प्रकाशित होने देते। परन्तु मरने के अनन्तर राग-द्वेष अथवा मत्सर करना वे छोड़ देते हैं। इसी लिए मरणोत्तर ही प्रायः मनुष्यों की कीर्ति फैलती है। यदि जीते ही कोई यशस्वी हो तो उसे विशेष भाग्यशाली समझना चाहिए। जीवित-दशा में किसी के गुणों पर लुब्ध होकर उसका सम्मान जिस देश में होता है उस देश की गिनती उदार और उन्नत देशों में की जाती है।”

(सरस्वती, जुलाई १९०३)

×

×

×

×

अँगरेजी में एक कहावत है—‘ए थिंग इज वेल्यूड आफ्टर इट इज लास्ट’। इसका भाव यह है कि जब तक कोई वस्तु हमारे पास रहती है, हम प्रायः उसका वास्तविक मूल्य नहीं निर्धारित कर पाते हैं—या इस ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता है। परन्तु जब वह वस्तु हमारे हाथ से निकल जाती है तब हम उसके लिए पछताते हैं। जीवन में अनेक बार हमें इस बात का अनुभव करना पड़ता है। संसार के इतिहास में अगणित उदाहरण ऐसे व्यक्तियों के मिलते हैं जिनके साथ उनके जीवित रहते तो पाशविक व्यवहार किया गया है, परन्तु मरणोपरांत उनका देवता के समान आदर हुआ। इसी बात को अपनी भाषा में सकारण समझाते हुए द्विवेदी जी ने

सम्मान

“मनुष्य के गुणों का विकाश प्रायः उसके मरने के अनन्तर होता है। जीवित दशा में ईर्ष्या-द्वेष और मत्सर आदि के कारण मनुष्य औरों के गुण बहुधा नहीं प्रकाशित होने देते। परन्तु मरने के अनन्तर राग-द्वेष अथवा मत्सर करना वे छोड़ देते हैं। इसी लिए मरणोत्तर ही प्रायः मनुष्यों की कीर्ति फैलती है। यदि जीते ही कोई यशस्वी हो तो उसे विशेष भाग्यशाली समझना चाहिए। जीवित-दशा में किसी के गुणों पर लुब्ध होकर उसका सम्मान जिस देश में होता है उस देश की गिनती उदार और उन्नत देशों में की जाती है।”

(सरस्वती, जुलाई १९०३)

×

×

×

×

अंगरेजी में एक कहावत है—‘ए थिंग इज वेल्थूड आफ्टर इट इज लास्ट’। इसका भाव यह है कि जब तक कोई वस्तु हमारे पास रहती है, हम प्रायः उसका वास्तविक मूल्य नहीं निर्धारित कर पाते हैं—या इस ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता है। परन्तु जब वह वस्तु हमारे हाथ से निकल जाती है तब हम उसके लिए पछताते हैं। जीवन में अनेक बार हमें इस बात का अनुभव करना पड़ता है। संसार के इतिहास में अगणित उदाहरण ऐसे व्यक्तियों के मिलते हैं जिनके साथ उनके जीवित रहते तो पाशाविक व्यवहार किया गया है, परन्तु मरणोपरांत उनका देवता के समान आदर हुआ। इसी बात को अपनी भाषा में सकारण समझाते हुए द्विवेदी जी ने

‘सर्टिफिकेट ऑफ़ ग्रान्ट’ के लिए नाम पूछे जाने पर उन्होंने शायद मन ही मन आत्म-गौरव और आत्माभिमान के भावों में भरकर गर्व और गौरव से लिखा था—“वदलू चमार की जूड़ी उतर जाती है तब मैं समझता हूँ कि मुझे ‘कैसे हिंदू’ का तंमगा मिल गया।” उनके चरित्र की यह विलक्षणता—मोह की यह निर्दयता—हिंदी के अधिकांश सेवी अभी तक नहीं समझ पाये हैं। उनके इस त्याग में क्या हमारे प्राचीन महर्षियों के त्याग के अनुकरण की, पूत और महती भावना निहित नहीं समझी जायेगी ?

×

×

×

×

संसार में जीवित और जाग्रत जातियाँ वास्तव में वे ही हैं जो अपने नेताओं, साहित्यिक महारथियों, शहीदों और समाज-सुधारकों के कार्यों का उचित मूल्य निर्धारित करके उनका यथोचित सम्मान करना जानती हैं। बड़े गर्व और गौरव का विषय है कि हमने भी इस बात को समझा और उस पर कुछ अमल भी किया। आचार्य द्विवेदी की सेवाओं को स्वीकार करने के लिए, उनका सम्मान करने के ही विचार से वे कई बार कवि-सम्मेलनों के संभाषित चुने गये। इसकी सूचना प्रायः प्रत्येक बार उन्हें तार से दी गई। हर बार उनसे प्रार्थना की जाती थी कि स्वीकृति तार ही द्वारा भेजिए। इसके उत्तर में द्विवेदी जी सदैव यही लिखते रहे कि अपनी अस्वस्थता के कारण यह भार स्वीकार करने में असमर्थ हूँ। लोगों ने उनकी विवशता के कई अर्थ लगाये। किसी ने कहा—घमंड है। किसी ने व्यंग्य किया—जी, हाँ, हमेशा बीमार रहते हैं। एक ने प्रश्न किया—तब ‘सरस्वती’ का नियमित रूप से संपादन कैसे करते हैं ? इसका रहस्य जो कुछ भी हो, पर द्विवेदी जी

‘सार्दिकेटे आऊ आनर’ के लिए नाम पूछे जाने पर उन्होंने, शायद मन ही मन आत्म-गौरव और आत्माभिमान के भावों में भरकर गर्व और गौरव से लिखा था—“वदलू चमार की जूड़ी उतर जाती है तब मैं समझता हूँ कि मुझे ‘कैसे हिंदू’ का तंमगा मिल गया।” उनके चरित्र की यह विलक्षणता—मोह की यह निर्दयता—हिंदी के अधिकांश सेवी अभी तक नहीं समझ पाये हैं। उनके इस त्याग में क्या हमारे प्राचीन महर्षियों के त्याग के अनुकरण की, पूत और महती भावना निहित नहीं समझी जायेगी ?

×

×

×

×

संसार में जीवित और जाग्रत जातियाँ वास्तव में वे ही हैं जो अपने नेताओं, साहित्यिक महारथियों, शहीदों और समाज-सुधारकों के कार्यों का उचित मूल्य निर्धारित करके उनका यथोचित सम्मान करना जानती हैं। बड़े गर्व और गौरव का विषय है कि हमने भी इस बात को समझा और उस पर कुछ अमल भी किया। आचार्य द्विवेदी की सेवाओं को स्वीकार करने के लिए, उनका सम्मान करने के ही विचार से वे कई बार कवि-सम्मेलनों के सभापति चुने गये। इसकी सूचना प्रायः प्रत्येक बार उन्हें तार से दी गई। हर बार उनसे प्रार्थना की जाती थी कि स्वीकृति तार ही द्वारा भेजिए। इसके उत्तर में द्विवेदी जी सदैव यही लिखते रहे कि अपनी अस्वस्थता के कारण यह भार स्वीकार करने में असमर्थ हूँ। लोगों ने उनकी विवशता के कई अर्थ लगाये। किसी ने कहा—बमंड है। किसी ने व्यंग्य किया—जी, हाँ, हमेशा बीमार रहते हैं। एक ने प्रश्न किया—तब ‘सरस्वती’ का नियमित रूप से संपादन कैसे करते हैं ? इसका रहस्य जो कुछ भी हो, पर द्विवेदी जी

इन दोनों अवतरणों से यह स्पष्ट होता है कि द्विवेदी जी अपनी विवशता के कारण ही सम्मेलन के सभापति-पद को अस्वीकार करते रहे हैं। हम उनके इन विचारों की विवेचना करके किसी अनुमानित अथवा कल्पित कारण की ओर संकेत करने की अपेक्षा यह अच्छा समझते हैं कि पाठकों के सामने यही दो परिच्छेद रख दिये जायँ।

×

×

×

×

जनवरी १९३१ में आचार्य द्विवेदी २४ घंटे के लिए काशी पधारे थे। उस समय काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से उन्हें एक अभिनंदन-पत्र दिया गया था। उनके चले जाने के कई दिन बाद श्री शिवपूजनसहाय के कहने पर द्विवेदी जी के सत्तरवें वर्ष में पदार्पण करनेके शुभ अवसर पर सभा ने उनके अभिनंदनार्थ एक ग्रंथ प्रकाशित करने का निश्चय किया। पाश्चात्य देशों में इस प्रकार के आयोजन प्रायः होते रहते हैं। भारत में भी बंगाल, महाराष्ट्र आदि प्रांतों में भी अपने साहित्यिकों तथा अन्य नेताओं के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करने के लिए इस प्रकार की योजनायें आदर की दृष्टि से देखी गई हैं। परंतु हिंदी के लिए यह पहला प्रस्ताव था। सौभाग्य से सभी ने हृदय से इसका स्वागत किया। सभा के कार्यकर्ताओं और श्री शिवपूजनसहाय जी के अनवरत परिश्रम के परिणाम-स्वरूप बाबू श्यामसुन्दरदास जी के संपादकत्व में वह ग्रंथ प्रकाशित हुआ। बहुत से हिंदीप्रेमी राजाओं और महानुभावों ने इस शुभ कार्य में सहायता दी। इंडियन प्रेस के संचालक श्री हरिकेशव घोष ने उस ग्रंथ को लागतमात्र पर छापकर अपनी उदारता का परिचय दिया।

उस ग्रंथ में कुल ६३२ पृष्ठ हैं। ११ पृष्ठों में दोनों विद्वान्

इन दोनों अवतरणों से यह स्पष्ट होता है कि. द्विवेदी जी अपनी विवशता के कारण ही सम्मेलन के सभापति-पद को अस्वीकार करते रहे हैं। हम उनके इन विचारों की विवेचना करके किसी अनुमानित अथवा कल्पित कारण की ओर संकेत करने की अपेक्षा यह अच्छा समझते हैं कि पाठकों के सामने यही दो परिच्छेद रख दिये जायँ।

×

×

×

×

जनवरी १९३१ में आचार्य द्विवेदी २४ वंटे के लिए काशी पधारे थे। उस समय काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से उन्हें एक अभिनंदन-पत्र दिया गया था। उनके चले जाने के कई दिन बाद श्री शिवपूजनसहाय के कहने पर द्विवेदी जी के सत्तरवें वर्ष में पदार्पण करनेके शुभ अवसर पर सभा ने उनके अभिनंदनार्थ एक ग्रंथ प्रकाशित करने का निश्चय किया। पाश्चात्य देशों में इस प्रकार के आयोजन प्रायः होते रहते हैं। भारत में भी बंगाल, महाराष्ट्र आदि प्रांतों में भी अपने साहित्यिकों तथा अन्य नेताओं के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करने के लिए इस प्रकार की योजनायें आदर की दृष्टि से देखी गई हैं। परंतु हिंदी के लिए यह पहला प्रस्ताव था। सौभाग्य से सभी ने हृदय से इसका स्वागत किया। सभा के कार्यकर्ताओं और श्री शिवपूजनसहाय जी के अनवरत परिश्रम के परिणाम-स्वरूप बाबू श्यामसुन्दरदास जी के संपादकत्व में वह ग्रंथ प्रकाशित हुआ। बहुत से हिंदीप्रेमी राजाओं और महानुभावों ने इस शुभ कार्य में सहायता दी। इंडियन प्रेस के संचालक श्री हरिकेशव घोष ने उस ग्रंथ को लागतमात्र पर छापकर अपनी उदारता का परिचय दिया।

उस ग्रंथ में कुल ६३२ पृष्ठ हैं। ११ पृष्ठों में दोनों विद्वान्

आयोजन किया और बड़ी धूम-धाम से आचार्य का स्वागत किया। इस शुभ कार्य में योग देनेवालों में ठाकुर श्रीनाथसिंह, मंशी कन्हैयालाल एडवोकेट, बयोवृद्ध पंडित लक्ष्मीधर वाजपेयी, पंडित रघुनंदन शर्मा, बाबू केदारनाथ गुप्त और श्री निरंजनलाल भार्गव मुख्य थे। ठाकुर गोपालशरणसिंह इसके स्वागताध्यक्ष थे।

द्विवेदी जी ने हिंदी-साहित्य और मातृ-भाषा की जितनी सेवा की है, उतनी कोई विरला ही साहित्य-सेवी करता है, इसलिए 'अपने समकालीन साहित्य-सेवियों की श्रण-स्वीकृति के रूप में' जितना सत्कार उपलब्ध हुआ है, वह भी किसी विरले को ही नसीब होता है। कम से कम हिंदी में तो किसी आधुनिक लेखक को नहीं हुआ। फिर भी अभी तीन बातों की कमी है—(१) द्विवेदी जी का विशद जीवन-चरित, (२) उनके पत्रों का संकलन और संदर्भ-साहित्य-प्रकाशन, (३) उनकी समस्त रचनाओं का एक संस्करण। इन अभावों का हिंदी-मंदार स्वयं अनुभव कर रहा है। अब इस ओर विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

आयोजन किया और बड़ी धूम-धाम से आचार्य का स्वागत किया। इस शुभ कार्य में योग देनेवालों में ठाकुर श्रीनाथसिंह, मंशी कन्हैयालाल एडवोकेट, बयोवृद्ध पंडित लक्ष्मीधर वाजपेयी, पंडित रघुनंदन शर्मा, बाबू केदारनाथ गुप्त और श्री निरंजनलाल भार्गव मुख्य थे। ठाकुर गोपालशरणसिंह इसके स्वागत-ध्यक्ष थे।

द्विवेदी जी ने हिंदी-साहित्य और मातृ-भाषा की जितनी सेवा की है, उतनी कोई विरला ही साहित्य-सेवी करता है, इसलिए 'अपने समकालीन साहित्य-सेवियों की अणु-स्वीकृति के रूप में' जितना सत्कार उपलब्ध हुआ है, वह भी किसी विरले को ही नसीब होता है। कम से कम हिंदी में तो किसी आधुनिक लेखक को नहीं हुआ। फिर भी अभी तीन बातों की कमी है—(१) द्विवेदी जी का विशद जीवन-चरित, (२) उनके पत्रों का संकलन और संदर्भ-साहित्य-प्रकाशन, (३) उनकी समस्त रचनाओं का एक संस्करण। इन अभावों का हिंदी-मंदार स्वयं अनुभव कर रहा है। अब इस ओर विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

अवस्था में जिस विद्वान् लेखक ने निष्काम भाव से अपने स्वास्थ्य को खोकर इसका मार्ग विशाल बनाया, कंकड़-पत्थर चीने, भाड़-भँसाड़ और काँटों को जलाया, वह हैं पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी।”

इसी से द्विवेदी जी आज आधुनिक हिंदी-भाषा के निर्माता अथवा जनक कहे जाते हैं।

×

×

×

माता-पिता अपने बालक को किसी योग्य गुरु के सुपुर्द कर देते हैं। वे जानते हैं कि गुरु जितना ही योग्य होगा, बालक की शिक्षा-दीक्षा उतनी ही संयत और उच्च कोटि की होगी। हिंदी-भाषा-भाषियों को भी बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में एक ऐसे पथ-प्रदर्शक गुरु की आवश्यकता थी, जो मातृभाषा और उसके साहित्य के प्रति उनका कर्तव्य उन्हें सुझाकर, ज्ञान की वृद्धि करके, उन्हें उचित मार्ग पर लाकर खड़ा कर दे। यह हमारा सौभाग्य ही था कि आवश्यकता के इस समय में ही प्रकृति माता ने हमारे लिए एक योग्य शिक्षक और पथ-प्रदर्शक पैदा कर दिया। द्विवेदी जी हमारे पथ-प्रदर्शक बने और उन्होंने अपने इस कार्य का—‘उत्तरदायित्व’ भी कह सकते हैं—संपादन कुशलता-पूर्वक किया। यद्यपि उन्होंने किसी ऐसी संस्था की स्थापना नहीं की जो हिंदी-भाषा या उसके साहित्य के प्रचार के लिए किसी प्रकार का कार्य करती, तथापि ‘सरस्वती’ की सहायता से, भाषा के शिल्पी, विचारों के प्रचारक तथा साहित्य के शिक्षक, तीन-तीन संस्थाओं के संस्थापकों का उत्तरदायित्व-पूर्ण कार्य उन्होंने स्वेच्छा से उठाया और सफलता के साथ निभाया। यही उत्तम कारण है।

अवस्था में जिस विद्वान् लेखक ने निष्काम भाव से अपने स्वास्थ्य को खोकर इसका मार्ग विशाल बनाया, कंकड़-पत्थर बीने, भाड़-भंखाड़ और काँटों को जलाया, वह हैं पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी।”

इसी से द्विवेदी जी आज आधुनिक हिंदी-भाषा के निर्माता अथवा जनक कहे जाते हैं।

×

×

×

माता-पिता अपने बालक को किसी योग्य गुरु के सुपुर्द कर देते हैं। वे जानते हैं कि गुरु जितना ही योग्य होगा, बालक की शिक्षा-दीक्षा उतनी ही संयत और उच्च कोटि की होगी। हिंदी-भाषा-भाषियों को भी बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में एक ऐसे पथ-प्रदर्शक गुरु की आवश्यकता थी, जो मातृभाषा और उसके साहित्य के प्रति उनका कर्तव्य उन्हें सुझाकर, ज्ञान की वृद्धि करके, उन्हें उचित मार्ग पर लाकर खड़ा कर दे। यह हमारा सौभाग्य ही था कि आवश्यकता के इस समय में ही प्रकृति माता ने हमारे लिए एक योग्य शिक्षक और पथ-प्रदर्शक पैदा कर दिया। द्विवेदी जी हमारे पथ-प्रदर्शक बने और उन्होंने अपने इस कार्य का—‘उत्तरदायित्व’ भी कह सकते हैं—संपादन कुशलता-पूर्वक किया। यद्यपि उन्होंने किसी ऐसी संस्था की स्थापना नहीं की जो हिंदी-भाषा या उसके साहित्य के प्रचार के लिए किसी प्रकार का कार्य करती, तथापि ‘सगस्वती’ की सहायता से, भाषा के शिल्पी, विचारों के प्रचारक तथा साहित्य के शिक्षक, तीन-तीन संस्थाओं के संचालन और उत्तरदायित्व-पूर्ण कार्य उन्होंने स्वेच्छा से उठाया। इन और सफलता के साथ निभाया। यही उत्तरदायित्व का प्रधान कारण है।

रूति ही उनके साहित्यिक-जीवन-काल में उनका लक्ष्य बनी रही—इसी के लिए वे सदैव प्राणपण से प्रयत्न करते रहे। 'साहित्य ऐसा होना चाहिए जिसके आकलन से बहुदर्शिता बढ़े, बुद्धि को तीव्रता प्राप्त हो, हृदय में एक प्रकार की संजीवनी शक्ति की धारा बहने लगे। मनोवेग परिष्कृत हो जाय और आत्मगौरव की उद्भावना होकर वह पराकाष्ठा को पहुँच जाय।' इस आदर्श और मनोवृत्ति ने ही उन्हें आचार्यत्व के पद पर बैठा दिया।

दूसरी बात इस संबंध में यह भी कही जा सकती है कि जिस परिस्थिति में द्विवेदी जी का प्रादुर्भाव हुआ था वह किसी स्थायी संपत्ति के निर्माण के योग्य का ही नहीं। उस समय तो केवल पथ-प्रदर्शकों की आवश्यकता थी जो साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में "आवृत्त रूप से बढ़ती हुई विचार-विदग्धता को नष्ट करके शुद्ध साहित्य-निर्माण की महत्त्वपूर्ण भावना साहित्य-सेवियों के हृदयों में जागरित कर दे।" यही कार्य द्विवेदी जी ने किया भी। इसी लिए यदि मनुष्य की अनुभूतियों, उसके आह्लाद, उसकी वेदना, और उसकी आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति के लिए साहित्य में अवकाश समझा जाय और उसी के अनुसार द्विवेदी-साहित्य की परीक्षा की जाय तो मानना पड़ेगा कि समस्त 'द्विवेदी-युग' भी हमारे साहित्य के इतिहास में कोई बहुत गौरव की वस्तु नहीं बन पाया; उसने प्रथम श्रेणी की "कभी मौलिक शुद्ध साहित्यिक कृति हमारे सामने नहीं रखी।" फिर केवल द्विवेदी जी की रचनाओं की तो बात ही क्या है—कारण, उनको तो, एक तरह से मौलिक रचनाओं के लिए अवकाश ही नहीं मिलता था—'सरस्वती'-संपादन में ही वे सदैव व्यस्त रहते थे। इस कथन की पुष्टि इस बात से भी की जा सकती है कि आज तक हिंदी के किसी भी पत्र-

पूर्ति ही उनके साहित्यिक-जीवन-काल में. उनका लक्ष्य बनी रही—इसी के लिए वे सदैव प्राणपण से प्रयत्न करते रहे। 'साहित्य ऐसा होना चाहिए जिसके आकलन से बहुदर्शिता बढ़े, बुद्धि को तीव्रता प्राप्त हो, हृदय में एक प्रकार की संजीवनी शक्ति की धारा बहने लगे। मनोवेग परिष्कृत हो जाय और आत्मगौरव की उद्भावना होकर वह पराकाष्ठा को पहुँच जाय।' इस आदर्श और मनोवृत्ति ने ही उन्हें आचार्यत्व के पद पर बैठा दिया।

दूसरी बात इस संबंध में यह भी कही जा सकती है कि जिस परिस्थिति में द्विवेदी जी का प्रादुर्भाव हुआ था वह किसी स्थायी संपत्ति के निर्माण के योग्य का ही नहीं। उस समय तो केवल पथ-प्रदर्शकों की आवश्यकता थी जो साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में "आवृत्त रूप से बढ़ती हुई विचार-विदग्धता को नष्ट करके शुद्ध साहित्य-निर्माण की महत्त्वपूर्ण भावना साहित्य-सेवियों के हृदयों में जागरित कर दे।" यही कार्य द्विवेदी जी ने किया भी। इसी लिए 'यदि मनुष्य की अनुभूतियों, उसके आह्लाद, उसकी वेदना, और उसकी आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति के लिए साहित्य में अवकाश समझा जाय और उसी के अनुसार द्विवेदी-साहित्य की परीक्षा की जाय तो मानना पड़ेगा कि समस्त 'द्विवेदी-युग' भी हमारे साहित्य के इतिहास में कोई बहुत गौरव की वस्तु नहीं बन पाया; उसने प्रथम श्रेणी की "क भी मौलिक शुद्ध साहित्यिक कृति हमारे सामने नहीं रखी।' फिर केवल द्विवेदी जी की रचनाओं की तो बात ही क्या है। कारण, उनको तो, एक तरह से मौलिक रचनाओं के लिए अवकाश ही नहीं मिलता था—'सरस्वती'-संपादन में ही वे सदैव व्यस्त रहते थे। इस कथन की पुष्टि इस बात से भी की जा सकती है कि आज तक हिंदी के किसी भी पत्र-

के द्वारा पूव और पश्चिम की, पुरातन और नूतन, स्थायी और अस्थायी, ज्ञान-संपत्ति—अपनी कठिन कमाई—संपूर्ण हिंदी भाषा-भाषी प्रांतों में मुक्त-हस्त से वितरित की, जिसके लिए हम सब उनके ऋणी हैं और स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र के बाद यदि किसी ऐसे एक व्यक्ति का नाम लिया जा सकता है जिसके व्यक्तित्व की हमारे हिंदी-साहित्य के विविध अंगों पर स्थायी और अमिट छाप लगी हो तो वह आचार्य द्विवेदी जी ही हैं।' जिस दिन कला की सुदृढ़ नींव पर हिंदी-संस्कृति के महान् प्रासाद का निर्माण होगा, जिस दिन गंगा और यमुना के किनारे का 'प्राचीन' एक बार फिर उठकर देश के दूसरे जाग्रत प्रांतों के समकक्ष में बैठने का हक्कदार हो सकेगा, उस दिन हम देखेंगे कि उसकी नींव को खोदकर तैयार रखने का सारा श्रेय दौलतपुर के एक ग्रामीण ब्राह्मण को ही है। वास्तव में, इसी सम्राट की दिग्विजय से गौरवान्वित होकर आज हम गुलछर्रे उड़ा रहे हैं। हमें इस प्रकार प्रसन्न होते और स्वर्गीय गौड़ जी के शब्दों में, अपने साहित्यिक जीवन में मातृभाषा हिंदी की जो सेवायें उन्होंने की हैं, उनको फूलते-फलते देखकर आज द्विवेदी जी की आत्मा को जो आनंद हो रहा होगा उसका मूल्य कौन आँक सकता है? और उससे हिंदी-साहित्य का जो प्रचार और प्रसार हो रहा है वह हमारी आँखों के सामने इतना प्रत्यक्ष है कि स्वाभाविक-सा लगता है और हम उसके प्रेरक के प्रति कृतज्ञ होना भी भूल जाते हैं।

×

×

×

के द्वारा पूव और पश्चिम की, पुरातन और नूतन, स्थायी और अस्थायी, ज्ञान-संपत्ति—अपनी कठिन कमाई—संपूर्ण हिंदी भाषा-भाषी प्रांतों में मुक्त-हस्त से वितरित की, जिसके लिए हम सब उनके ऋणी हैं और स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र के बाद यदि किसी ऐसे एक व्यक्ति का नाम लिया जा सकता है जिसके व्यक्तित्व की हमारे हिंदी-साहित्य के विविध अंगों पर स्थायी और अमिट छाप लगी हो तो वह आचार्य द्विवेदी जी ही हैं।' जिस दिन कला की सुदृढ़ नींव पर हिंदी-संस्कृति के महान् प्रासाद का निर्माण होगा, जिस दिन गंगा और यमुना के किनारे का 'प्राचीन' एक बार फिर उठकर देश के दूसरे जाग्रत् प्रांतों के समक्ष में बैठने का हक्कदार हो सकेगा, उस दिन हम देखेंगे कि उसकी नींव को खोदकर तैयार रखने का सारा श्रेय दौलतपुर के एक ग्रामीण ब्राह्मण को ही है। वास्तव में, इसी सम्राट की दिग्विजय से गौरवान्वित होकर आज हम गुलछर्रे उड़ा रहे हैं। हमें इस प्रकार प्रसन्न होते और स्वर्गीय गौड़ जी के शब्दों में, अपने साहित्यिक जीवन में मातृभाषा हिंदी की जो सेवायें उन्होंने की हैं, उनको फूलते-फलते देखकर आज द्विवेदी जी की आत्मा को जो आनंद हो रहा होगा उसका मूल्य कौन आँक सकता है? और उससे हिंदी-साहित्य का जो प्रचार और प्रसार हो रहा है वह हमारी आँखों के सामने इतना प्रत्यक्ष है कि स्वाभाविक-सा लगता है और हम उसके प्रेरक के प्रति कृतज्ञ होना भी भूल जाते हैं।

हैज़लिट या हमारे देश के रवींद्रनाथ कोई भी नहीं बैठे। यह भी नहीं कह सकते कि ये लोग शास्त्रीय समीक्षा की प्राचीन प्रणाली से परिचित नहीं थे। उन्होंने उसका अभ्यास नहीं किया। हमारा अभिप्राय यह भी नहीं कि हम द्विवेदी जी की समीक्षा से स्थूल, जानसून, रवींद्रनाथ आदि की समीक्षा की तुलना करें। परंतु इतनी समर्था तो सबमें है कि अपने समय की साहित्य-समीक्षा पर अपनी प्रकृति की मुद्रा ये सभी अंकित कर गये हैं। भावना की वह गहन तन्मयता, जो रवींद्रनाथ को कविता के निगूढ़ रहस्यतम अंतरपट का दर्शन करा देती है, द्विवेदी जी में नहीं मिलती; न इन्हें कल्पना की वह आकाशगामिनी गति ही मिली है जो सदा रवि बाबू के साथ रहती है। परंतु इन प्रदेशों के निस्संपन्न, कर्मठ ब्राह्मण की भाँति द्विवेदी जी का शुष्क, सात्विक आचार साहित्य पर भी अपनी छाप छोड़ गया है जिसमें न कल्पना की उच्च उद्भावना है, न साहित्य की सूक्ष्म दृष्टि; केवल एक शुद्ध प्रेरणा है जो भाषा का भी मार्जन करती है और समय पर सरल उदात्त भावों का भी सत्कार करती है। यही द्विवेदी जी की देन है। शुष्कता में व्यंग्य है, सात्विकता में विनोद है। द्विवेदी जी में ये दोनों ही हैं। स्वभाव की रुखाई कपास की भाँति नीरस होती हुई भी गुणमय फल देती है। द्विवेदी जी ने हिंदी-साहित्य के क्षेत्र में कपास की ही खेती की 'निरस विशद गुणमय फल जासू।'

×

×

×

×

द्विवेदी जी अपने युग के उस साहित्यिक आदर्शवाद के जनक हैं जो समय पाकर प्रेमचंद जी आदि के उपन्यास-साहित्य में फूला-फला। अपनी विशेषताओं और दृष्टियों से समन्वित इस आदर्शवाद की महिमा हमें स्वीकार करनी चाहिए। मनुष्य में सत् के प्रति जो

हैज़लिट या हमारे देश के रवींद्रनाथ कोई भी नहीं बैठे। यह भी नहीं कह सकते कि ये लोग शास्त्रीय समीक्षा की प्राचीन प्रणाली से परिचित नहीं थे। उन्होंने उसका अभ्यास नहीं किया। हमारा अभिप्राय यह भी नहीं कि हम द्विवेदी जी की समीक्षा से स्थूल, जानसन, रवींद्रनाथ आदि की समीक्षा की तुलना करें। परंतु इतनी समर्था तो सबमें है कि अपने समय की साहित्य-समीक्षा पर अपनी प्रकृति की मुद्रा ये सभी अंकित कर गये हैं। भावना की वह गहन तन्मयता, जो रवींद्रनाथ को कविता के निगूढ़ रहस्यतम अंतरपट का दर्शन करा देती है, द्विवेदी जी में नहीं मिलती; न इन्हें कल्पना की वह आकाशगामिनी गति ही मिली है जो सदा रवि बाबू के साथ रहती है। परंतु इन प्रदेशों के निस्संपन्न, कर्मठ ब्राह्मण की भाँति द्विवेदी जी का शुष्क, सात्विक आचार साहित्य पर भी अपनी छाप छोड़ गया है जिसमें न कल्पना की उच्च उद्भावना है, न साहित्य की सूक्ष्म दृष्टि; केवल एक शुद्ध प्रेरणा है जो भाषा का भी मार्जन करती है और समय पर सरल उदात्त भावों का भी सत्कार करती है। यही द्विवेदी जी की देन है। शुष्कता में व्यंग्य है, सात्विकता में विनोद है। द्विवेदी जी में ये दोनों ही हैं। स्वभाव की रुखाई कपास की भाँति नीरस होती हुई भी गुणमय फल देती है। द्विवेदी जी ने हिंदी-साहित्य के क्षेत्र में कपास की ही खेती की 'निरस विशद गुणमय फल जासु।'

×

×

×

×

द्विवेदी जी अपने युग के उस साहित्यिक आदर्शवाद के जनक हैं जो समय पाकर प्रेमचंद जी आदि के उपन्यास-साहित्य में फूला-फला। अपनी विशेषताओं और त्रुटियों से समन्वित इस आदर्शवाद की महिमा हमें स्वीकार करनी चाहिए। मनुष्य में सत् के प्रति जो

भी विधियाँ विहित हैं। द्विवेदी-युग को साहित्य के कर्मयोग का युग कहना चाहिए।

—बोध श्यामसुंदरदास, बी० ए०

हाथ कृष्णदास

अस्तविना दि० अ० अ० अ० पृष्ठ ६-७)

द्विवेदी

जो

गिरि-मेखला से वेष्टित होते हुए भी, अपने आकार-विस्तार के कारण, एक स्वच्छंद पर्वत-सा मालूम होता है। जिसके अन्तःस्थल पर मेवों का हार है और विद्युच्छटा दमकते हुए हीरे की तरह, क्षण-क्षण में ललक जाती है; परंतु जिसका उन्नत ललाट शुभ्र आकाश में सूर्य की रश्मियों से कीर्तिमयी कांति का पूज्य चनकर अपने युग-प्रदेश को तेजोमय करता है, और जिसकी प्रतिभा से पीयूषमयी शक्ति का ज्योति, शिवशंकर की जटा से निकली हुई पुरयसलिला गंगा के समान, अनेक प्रांतों को सिंचित और अनंत प्राणियों को सत्साहित्य और सदुद्योगों में प्रवृत्त होने के लिए स्फूर्ति का दान देता है। अपने युग में वह बेजोड़ है। अद्वेय श्रीनिवास शास्त्री ने जो गांधीजी के विषय में कहा था, वही, साहित्यिक क्षेत्र में—और वह भी वहीं तक के लिए जहाँ तक हिंदी-भाषा की सीमा का विस्तार है—द्विवेदी जी के लिए कहा जा सकता है। वह वास्तव में 'आश्चर्य और अननुगम्य' है, उन्हें न कोई छू सकता है और न कोई उनके पास तक फटक सकता है। अपनी अनूठी विशिष्टता से वे सर्वथा अकेले और निराले हैं। अपने समय के वे एकछत्र राजा थे। काफ़ी समय तक प्रतिद्वंद्वियों ने उनके हाथ से साहित्यिक दंड को छीनने की व्यर्थ चेष्टायें कीं। अंत में विजयलक्ष्मी ने उन्हीं के माथे पर मुकुट रक्खा

भी विधियाँ विहित हैं। द्विवेदी-युग को साहित्य के कर्मयोग का युग कहना चाहिए।

—बाबू श्यामसुन्दरदास, बी० ए०

श्याम कृष्णदास

(अस्ताविना दि० अ० अ० अ० अ० पृष्ठ ६-७)

द्विवेदी जी उस गगनस्पर्शी मेरु-स्तंभ से समता करते हैं जो गिरि-मेखला से वेष्टित होते हुए भी, अपने आकार-विस्तार के कारण, एक स्वच्छंद पर्वत-सा मालूम होता है। जिसके तल-स्थल पर मेघों का हार है और विद्युच्छटा दसकते हुए हीरे की तरह क्षण-क्षण में चमक जाती है; परंतु जिसका उन्नत ललाट शुभ्र आकाश में सूर्य की रश्मियों से कीर्तिमयी कान्ति का पंज बतकर अपने युग-प्रदेश को तेजोमय करता है, और जिसकी प्रतिभा से पीयूषमयी शक्ति का ज्योति, शिवशंकर की जटा से निकली हुई पुण्यसलिला गंगा के समान, अनेक प्रांतों को सिंचित और अनेक प्राणियों को सत्साहित्य और सदुद्योगों में प्रवृत्त होने के लिए स्फूर्ति का दान देता है। अपने युग में वह बेजोड़ है। अद्वेय श्रीनिवास शास्त्री ने जो गांधी जी के विषय में कहा था, वही, साहित्यिक क्षेत्र में—और वह भी वहीं तक के लिए जहाँ तक हिंदी-भाषा की सीमा का विस्तार है—द्विवेदी जी के लिए कहा जा सकता है। वह वास्तव में 'आश्चर्य और अननुगम्य' है, उन्हें न कोई छू सकता है और न कोई उनके पास तक फटक सकता है। अपनी अनूठी विशिष्टता से वे सर्वथा अकेले और निराले हैं। अपने समय के वे एकच्छेद राजा थे। काफ़ी समय तक प्रतिद्वंद्वियों ने उनके हाथ से साहित्यिक दंड को छीनने की व्यर्थ चेष्टायें कीं। अंत में विजयलक्ष्मी ने उन्हीं के माथे पर मुकुट रखवा

तो उसके सबसे बड़े विधायक तो अवश्य हैं। दोनों ही अपने-अपने समय के अद्वितीय समालोचक हुए हैं। डाक्टर जानसन ही की तरह द्विवेदी जी के साहित्यिक कोड़ों की चोट से बहुत से अनधिकार चेष्टा करनेवाले लेखकों को समय-समय पर तिलमिलाना पड़ा है। दोनों ही असाधारण पांडित्य के कारण विद्वन्मंडली के पूजास्पद हुए हैं। डाक्टर जानसन ही की तरह द्विवेदी जी में मैत्री का अपूर्व गुण है।

—पंडित वैकुण्ठेशनारायण तिवारी, एम० ए०
(साप्ताहिक भारत २८ अक्टूबर और ११ नवंबर, १९२८)

४

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी जी, जो अपने युग के प्रधान साहित्याचार्य हुए, अपने आरंभिक विकास की दृष्टि से दयानंदी थे। सामयिक जड़ताओं का प्रतीकार करने में आप सदा खड़गहस्त रहे। परशुराम की भाँति आपने राजसभाव के विरुद्ध चिरकाल तक अनवरत संघर्ष किया। युग की परिस्थिति के वश होकर द्विवेदी जी, द्रोणाचार्य की भाँति क्षात्रधर्म के अनुयायी हुए। उन्होंने सैनिक वृत्ति धारण की। पच्चीस वर्ष लगातार हिंदी-साहित्य के शिविर में उसके सेनानायक होकर रहे। सच पूछा जाय तो हिंदी का वह युग ब्राह्मणयुग न था, क्षत्रिययुग था। उसकी संपूर्ण मतिगति वैसे ही साँचे में ढली थी। उस युग के सच्चे ब्राह्मणों ने—जिनमें द्विवेदी जी प्रमुख हैं—एक अभूतपूर्व आवेश में आकर कार्य किया। उनका ऋण हम पर अपार है। परंतु जब हम यह विचार करते हैं कि निरंतर संघर्षमय समय में रहकर भी द्विवेदी जी उत्तम कोटि की साहित्यिक दृष्टि से संपन्न थे, तब हमें उनकी वास्तविक महत्ता का बोध होता है। संस्कृत-काव्य की मध्यकालीन-कला—विशेषतः युक्त-रचना का चमत्कार द्विवेदी जी पर पूर्ण प्रभाव रखता था, किंतु वे और भी

तो उसके सबसे बड़े विधायक तो अवश्य हैं। दोनों ही अपने-अपने समय के अद्वितीय समालोचक हुए हैं। डाक्टर जानसन ही की तरह द्विवेदी जी के साहित्यिक कोढ़ों की चोट से बहुत से अनधिकार चेष्टा करनेवाले लेखकों के समय-समय पर तिलमिलाना पड़ा है। दोनों ही असाधारण पांडित्य के कारण विद्वन्मंडली के पूजास्पद हुए हैं। डाक्टर जानसन ही की तरह द्विवेदी जी में मैत्री का अपूर्व गुण है।

—पंडित वेंकटेशनारायण तिवारी, एम० ए०
(साप्ताहिक भारत २८ अक्टूबर और ११ नवंबर, १९२८)

४

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी जी, जो अपने युग के प्रधान साहित्याचार्य हुए, अपने आरंभिक विकास की दृष्टि से दयानंदी थे। सामयिक जड़ताओं का प्रतीकार करने में आप सदा खड़गहस्त रहे। परशुराम की भाँति आपने राजसभाव के विरुद्ध चिरकाल तक अनवरत संघर्ष किया। युग की परिस्थिति के वश होकर द्विवेदी जी, द्रोणाचार्य की भाँति क्षात्रधर्म के अनुयायी हुए। उन्होंने सैनिक वृत्ति धारण की। पच्चीस वर्ष लगातार हिंदी-साहित्य के शिविर में उसके सेनानायक होकर रहे। सच पूछा जाय तो हिंदी का वह युग ब्राह्मणयुग न था, क्षत्रिययुग था। उसकी संपूर्ण मतिगति वैसे ही साँचे में ढली थी। उस युग के सच्चे ब्राह्मणों ने—जिनमें द्विवेदी जी प्रमुख हैं—एक अभूतपूर्व आवेश में आकर कार्य किया। उनका ऋण हम पर अपार है। परंतु जब हम यह विचार करते हैं कि निरंतर संघर्षमय समय में रहकर भी द्विवेदी जी उत्तम कोटि की साहित्यिक दृष्टि से संपन्न थे, तब हमें उनकी वास्तविक महत्ता का बोध होता है। संस्कृत-काव्य की मध्यकालीन-कला—विशेषतः युक्त-रचना का चमत्कार द्विवेदी जी पर पूर्ण प्रभाव रखता था, किंतु वे और भी

६

यदि कोई मुझसे पूछे कि द्विवेदी जी ने क्या किया तो मैं उसे समग्र आधुनिक हिंदी-साहित्य दिखाकर कह सकता हूँ कि यह सब उन्हीं की सेवा का फल है। हिंदी-साहित्य गगन में सूर्य, चंद्रमा और तारागणों का अभाव नहीं है। सूरदास, तुलसीदास, पद्माकर आदि कवि साहित्याकाश के देदीप्यमान नक्षत्र हैं। परंतु मेघ की तरह ज्ञान की जलराशि देकर साहित्य उपवन को हरा-भरा करनेवालों में द्विवेदी जी की ही गणना होगी।

—श्रीपदुमलाल पुत्रालाल बस्ती
(द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ पृ० ५३१)

७

हिंदी के द्वारा द्विवेदी जी ने हिंदू-संस्कृति का भला किया है। मेरे लिए हिंदू-संस्कृति और हिंदुत्व दो पर्यायवाची शब्द हैं। द्विवेदी जी ने भाषा-द्वारा हिंदू की रक्षा तथा विकास किया है; अतः मेरे लिए वे मान्य हैं।

—श्री भाई परमानंद एम० ए०, एम० एल्ल० ए०
(द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ पृ० ५३१)

८

No one has laboured harder or to greater purpose in the cause of promoting intellectual freedom by popularizing expression in an Indian language—Hindi in his case—than Pāndit Mahavir Prasad Dvivedi × × × All honour to him for the pioneer work that he has per-

६

यदि कोई मुक्तसे पूछे कि द्विवेदी जी ने क्या किया तो मैं उसे समग्र आधुनिक हिंदी-साहित्य दिखाकर कह सकता हूँ कि यह सब उन्हीं की सेवा का फल है। हिंदी-साहित्य गगन में सूर्य, चंद्रमा और तारागणों का अभाव नहीं है। सूरदास, तुलसीदास, पद्माकर आदि कवि साहित्याकाश के देदीप्यमान नक्षत्र हैं। परंतु मेघ की तरह ज्ञान की जलराशि देकर साहित्य उपवन को हरा-भरा करनेवालों में द्विवेदी जी की ही गणना होगी।

—श्रीपदुमलाल पुत्रालाल बख्शी
(द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ पृ० ५३१)

७

हिंदी के द्वारा द्विवेदी जी ने हिंदू-संस्कृति का भला किया है। मेरे लिए हिंदू-संस्कृति और हिंदुत्व दो पर्यायवाची शब्द हैं। द्विवेदी जी ने भाषा-द्वारा हिंदू की रक्षा तथा विकास किया है; अतः मेरे लिए वे मान्य हैं।

—श्री भाई परमानंद एम० ए०, एम० एल० ए०
(द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ पृ० ५३१)

८

No one has laboured harder or to greater purpose in the cause of promoting intellectual freedom by popularizing expression in an Indian language—Hindi in his case—than Pāndit Mahavir Prasad Dvivedi × × × All honour to him for the pioneer work that he has per-

प्रेम और अक्खड़पन का जो standard हिंदी-पत्रकारों के सामने उन्होंने रक्खा है उस तक पहुँचने के लिए अभी बीसियों वर्ष लगेंगे। उनके मुकाबले का दूसरा कोई जर्नेलिस्ट हिंदी-संसार में तो विद्यमान नहीं।

—पं० बनारसीदास चतुर्वेदी
(विशाल भारत, मई १९२६)

१२

हिंदी-संसार में तो क्या उनकी रचना के साहित्य-सेवी भारत के अन्य भाषा-भाषियों में भी कितने हैं, पता नहीं।

—पं० श्रीरामशर्मा
(सुधा, ६-१-२ पृ० २२५)

१३

व्यक्तित्व बनाया जाता है, स्वयं नहीं बनता। लोकाकांक्षा ही व्यक्तित्व की महिमा प्रतिष्ठापित करती है। हमारे आचार्य द्विवेदी जी इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अपनी निःस्वार्थ साहित्यिक साधना से इन्होंने जिस वातावरण की सृष्टि की, उसके भीतर से इसी लोकाकांक्षा का प्रादुर्भाव हुआ और यही आज के हमारे इतने बड़े आह्लाद का कारण बनी। इस प्रकार की आकांक्षाओं का हमारे बीच जितना ही अधिक प्रसार होगा, हम उतनी ही जल्दी अपने आपको समुन्नत बना सकेंगे।

—स्व० श्री प्रेमचंद जी
(हंस ३-७-पृ० १०२)

१४

समय परिवर्तनशील है। भारतवर्ष में अंगरेजों का राज्य रहे, गाँहे स्वराज्य हो जाय, एकाधिपत्य हो, चाहे प्रजातंत्रवाद की टुंडुभि वजे; परंतु हिंदी-साहित्य का जो राष्ट्रीय भवन द्विवेदी जी ने तैयार किया

प्रेम और अक्खड़पन का जो standard हिंदी-पत्रकारों के सामने उन्होंने रखा है उस तक पहुँचने के लिए अभी बीसियों वर्ष लगेंगे। उनके मुक्तावले का दूसरा कोई जर्नेलिस्ट हिंदी-संसार में तो विद्यमान नहीं।

—पं० बनारसीदास चतुर्वेदी
(विशाल भारत, मई १९२६)

१२

हिंदी-संसार में तो क्या उनकी टकर के साहित्य-सेवी भारत के अन्य भाषा-भाषियों में भी कितने हैं, पता नहीं।

—पं० श्रीरामशर्मा
(सुधा, ६-१-२ पृ० २२५)

१३

व्यक्तित्व बनाया जाता है, स्वयं नहीं बनता। लोकाकांक्षा ही व्यक्तित्व की महिमा प्रतिष्ठापित करती है। हमारे आचार्य द्विवेदी जी इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अपनी निःस्वार्थ साहित्यिक साधना से इन्होंने जिस वातावरण की सृष्टि की, उसके भीतर से इसी लोकाकांक्षा का प्रादुर्भाव हुआ और यही आज के हमारे इतने बड़े आह्लाद का कारण बनी। इस प्रकार की आकांक्षाओं का हमारे बीच जितना ही अधिक प्रसार होगा, हम उतनी ही जल्दी अपने आपको समुन्नत बना सकेंगे।

—स्व० श्री प्रेमचंद जी
(हंस ३-७-पृ० १०२)

१४

समय परिवर्तनशील है। भारतवर्ष में अंगरेजों का राज्य रहे, गाँधे स्वराज्य हो जाय, एकाधिपत्य हो, चाहे प्रजातंत्रवाद की टुट्टुमि बजे; परंतु हिंदी-साहित्य का जो राष्ट्रीय भवन द्विवेदी जी ने तैयार किया